जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १० किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

Vol IX No I

Edited by

Prof Hiralal Jain M A LL.B
Prof A N Upadhye M A D Litt
B Kamata Prasad Jain M R A S
Pt K Bhujabali Shastri Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
[JAINA SIDDHANTA BHAVANA]
ARRAH BIHAR INDIA

JUNE, 1943

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में जून और दिसम्बर में दो भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ३) और विदेश के लिये ३।।) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं, मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते मे परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास विना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिकरूप से केवल जैनधर्म की उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम ए , एल.एल बी

प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये, एम. ए , डी. लिट.

बाबू कामता प्रसाद, एम आर.ए एस

पण्डित के भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १०] [किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन एम ए, एल एल बी

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये एम ए, डी लिट्

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम आर ए एस

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

जैन सिद्धान्त भवन आरा द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

वि० सं० २०००

विषय-सूची

पृष्ठ सं०

परिशिष्ट

श्रीजिनाय नमः

सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १० | जून, १९४३। ज्येष्ठ वीर नि० सं० २४६९ | किरण १

विजयनगर के जैन शिलालेख

[ले० श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस]

मद्रास प्रान्त के वर्तमान बल्लारि जिले में तालुका होसपेट में हम्पि नामक ग्राम है। एक समय यही अन्तिम हिन्दू साम्राज्य की राजधानी विजयनगर कहलाती नजर आती थी। आज वह धराशायी है। विजयनगर को सम्राट् हरिहर राय ने सन् १३३६ ई० में बसाया था। यह बड़ा ही विशाल नगर था। आज उसके ध्वंसावशेष नौ वर्गमील में फैले हुए हैं। अनेक विदेशी यात्रियों ने इस नगर के दर्शन करके मुक्तकण्ठ से प्रशंसा लिखी है। सन् १४४२ ई० में अब्दुल रज्जाक नामक यात्री ने विजयनगर को देखकर लिखा है कि[1] वैसा नगर कभी दृष्टि से नहीं आया और बुद्धि को यह कभी सुनाई न पड़ा कि दुनिया में उसकी बराबरी का कोई नगर था। यह नगर सात कोटों में बसा हुआ था। सातवें कोट में राजमहल थे। प्रत्येक वर्ग के व्यापारी वहां थे। हीरा, लाल, मोती आदि खुले बाजार बिकते थे। अमीर और गरीब सभी जवाहरात के कंठे, कुंडल और अंगूठियां पहनते थे। पन्द्रहवीं शताब्दि में दमस्क (सिरिया) से निकोलो कौन्टि (Nicolo Conti) नामक यात्री भारत आया था और उसने विजयनगर को देखा था। उसे वह पर्वतों के निकट बसा हुआ विशाल नगर बताता है। वह नगर साठ मील के क्षेत्र में विस्तृत था और उसकी दीवालें पर्वतों में चली गई थीं—बहुत ही ऊँची थीं।[2] इन उल्लेखों से पाठक विजयनगर की विशालता और महत्ता का अनुमान कर सकते हैं। किन्तु कुटिल काल महान् ब्याल है—उसके वार से कोई नहीं बचता। विजयनगर

---

1 'The city of Bidjanagar is such that pupil of the eye has never seen a place like it and the ear of intelligence has never been informed that there existed anything to equal it in the world It is built in such a manner that seven citadels and the same number of walls enclose each other etc —Major India in the fifteenth century (London) pp 23–26

2 Ibid pt II p 6

भी नही बचा—उसके खंडहर आज लौकिक अनित्यता का दिग्दर्शन करा रहे हैं। इन खंडहरों मे कम्पली को जाती हुई सड़क पर सबसे पहला ध्वंसावशेष एक जैन मंदिर का है, जो 'गाणिगित्ति-वसति' नाम से प्रसिद्ध था। 'गाणिगित्ति' कहते हैं तेलिन को। अतः हो सकता है कि इस मदिर को किसी धर्मात्मा तेलिन ने किसी तरह से अपनाया होगा—संभव है कि उसने इसका जीर्णोद्धार कराया हो—इसीलिये वह उसके नाम से प्रख्यात हो गया। वरन् शिलालेख से प्रकट होता है कि इस मंदिर को सेनापति इरुगप्प ने बनवाया था। इस मंदिर के सम्मुख एक दीपस्तम्भ है—उस दीपस्तम्भ पर शिलालेख अङ्कित है। शिलालेख मे संस्कृत भाषा के २८ श्लोक हैं और प्रारंभिक दो मंगलसूचक श्लोकों में श्री जिनराज और जिन-शासन को स्मरण किया गया हैं। उपरान्त सिंहनन्दी मुनिराज की परम्परा निम्नप्रकार लिखी है:—

मूलसंघ-नन्दिसंघ-बलात्कारगण-सारस्वतगच्छ
|
पद्मनन्दी
|
भट्टारक धर्म्मभूषण प्रथम
|
अमरकीर्ति
|
सिंहनन्दी गणभृत्
|
भट्टारक धर्म्मभूषण
|
वर्द्धमान
|
भट्टारकमुनि धर्म्मभूषण द्वितीय

इन गुरुओं का उल्लेख शिलालेख मे 'आचार्य'—'आर्य'—'गुरु'—'देशिक'—'मुनि' और 'योगीन्द्र' विशेष नामों से हुआ है। उपरान्त विजयनगर राजवंश के दो राजाओं अर्थात् यादव राजवंशोद्भूत बुक्कराय और उनके पुत्र हरिहर द्वितीय का वर्णन है। हरिहर के परम्परीण प्रधान मंत्री दंडाधिनायक बैच अथवा बैचप्प थे। बैचप्प के पुत्र दंडेश अथवा क्षितीश या धारणीश (Prince) इरुग अथवा इरुगप्प थे, जिनके गुरु आचार्य सिंहनन्दी थे। शक १३०७, क्रोधन संवत् से इरुग ने विजयनगर मे कुंथुजिननाथ का पाषाण मंदिर निर्माण कराया। विजयनगर कर्णाटक देश के कुन्तल प्रान्त मे अवस्थित था। सबसे पहले यह शिलालेख सन् १८३६ मे 'एशियाटिक रिसर्चेज' (भा० २० पृ० ३६) पत्रिका मे प्रकाशित हुआ था। उपरान्त सन १८९० मे डॉ० हुल्श सा० ने इसका सम्पादन आर्कोलोजिकल सर्वे ऑव इंडिया भा० ३ मे किया था।

पाठकों के अवलोकनार्थ हम उस शिलालेख को यहांपर सब यथावत् उपस्थित करते हैं —

मूल शिलालेख :—

(१) यत्पादपङ्कजरजो रजो हरति मानसं । स जिन श्रेयसे
(२) भूयाद्भूयसे करुणालय ॥ (१) श्रीमत्परमगंभीर
(३) स्याद्वादामोघलांच्छन । जीयात्रैलोक्यनाथ
(४) स्य शासनं जिनशासन ॥ [२] श्रीमूलसंघेजनि नन्दिसंघ
(५) [स्त] स्मिन् बलात्कारगणोति रम्य । तत्रापि सारस्वतनाम्नि गच्छे स्वच्छाशयोभूदि
(६) ह पद्मनंदी ॥ [३] आचार्यं कुंड [कुंदा] ख्यो वक्रग्रीवो महामति ।एलाचा
(७) र्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पचधा ॥ [४] केचित्तदन्वये चारुमुनय खन
(८) यो (?) गिरां [।] जलधाविव रत्नानि बभूवुर्दिव्यतेजस ॥ [५] तत्रासीच्चारुचारित्र
(९) रत्नरत्नाकरो गुरु । धर्मभूषणयोगीन्द्रो भट्टारकपदांचित ॥[६]
(१०) भाति भट्टारको धर्मभूषणो गुणभूषण । यद्यश कुसुमामो
(११) द गगन भ्रमरायते ॥ [७] शिष्यस्तस्य मुनेरासीदनर्गलतपोनिधि । श्रीमान
(१२) मरकीर्त्याचार्यो देशिकाग्रेसर शमी ॥ [८] निजपक्षपुटकवाट घटितानिलनिरोध
(१३) [तो] हृदये । अविचलितबोधदीप तममरकीर्त्ति भजे तमोहर ॥ [९] केचि
(१४) त्स्वोदरपूरणे परिणता विद्याविहीनांतरा योगीशा भुवि सभवतु बह
(१५) व कि तैरनंतैरिह । धीर स्फूर्जति दुर्जयातनुमदध्वसी गुणैरूर्जि
(१६) तैराचार्योमरकीर्त्तिशिष्यगणभृच्छ्रीसिंहनंदी व्रती ॥ [१०] श्रीधर्मभूषोजनि त
(१७) स्य पट्टे श्रीसिंहनन्द्यार्यगुरोस्सधर्मा । भट्टारक श्रीजिनधर्महर्म्यस्तंभा
(१८) यमान कुमुदेन्दुकीर्त्ति ॥ [११] पट्टे तस्य मुनरासीद्वर्द्धमानमुनीश्वर । श्रीसिं
(१९) हनंदियोगीन्द्रचरणांभोजषट्पद ॥ [१२] शिष्यस्तस्य गुरोरासीद्धर्मभूषण
(२०) देशिक । भट्टारकमुनि श्रीमान् शल्यत्रयविवर्जित ॥ [१३] भट्टारकमुन पादाम्बु
(२१) जकमले म्रुम । यत्रग्रे मुकुलभाव याति राजश्रेणी पर ॥ [१४] एव गुरप
(२२) रपरायामविच्छिन्न वर्त्तमानायां ॥ आसीदसीमहिमावश यादव
(२३) भूभृता [।] अखण्डितगुणाधार श्रीमान्बुक्कमहीपति ॥ [१५] तदभूद्भूभृतस्तस्मा
(२४) द्राजा हरिहरेश्वर । कलाकलापनिलयो विधुःपारोदधेरिव ॥ [१६] यस्मिन् भक्तरिभू
(२५) पाले विक्रमाक्रांतविष्टपे । चिराद्राजन्वती हृत भव (न्मया) वसुधरा ॥ [१७] तस्मिन् शा
(२६) सति राजेंद्र चतुरबुधिमेखला । धरामर्थिजनाशाचपुरातनमहीपती । [१८] आसीत्त
(२७) स्य महीजाने शक्तित्रयसमन्वित कुलक्रमागतो मंत्री वैचदंडाधिनायक ॥ [१९] द्वि
(२८) तायमत करण रहस्य बाहुरूपा .... श्रीमा महादेव (व) ।

(?) 'खनयो गिरा का अर्थ इपर सा० न Mines of speeches किया है ।

(२९) दंडनाथो जागर्त्ति कार्ये हरिभूमिभर्त्तुः ॥ [२] तस्य श्रीबैचदंडाधिनायकस्यो-❀

(३०) [र्जि] तश्रिय. । आसीदिरुगदंडेशो नंदनो लोकनंदनः ॥ [२१]

न मूर्त्ता नामूर्त्ता निखिलभु-

(३१) वनाभोगिकृतया शरद्राजज्याकाविटनिटिलनेत्रधुतितया । अभूना कीर्तिरस्या चिर-

(३२) मिरुगदंडेश.कृत्यन्यनेकातान्कोंता ररमिद न किंचिन्मतमिति ॥ [२२] मदंगजोपि गुण-

(३३) वानपि मार्गणानामाधारतामुपगतोपि च यस्य चापः । नम्रः परान्विनमयन्नि-

(३४) रगचितोगस्योच्चैर्जनाय ननु शिक्षयतीव नीति [२३] हरिहरधरणीशभाग्यसाम्रा-

(३५) ज्यलक्ष्मीकुवलयहिमधामा शौर्यगांभीर्यसीमा । इरुगपधरणो गल्सिंह-

(३६) नंद्यार्यवर्यप्रपद [लि] नभृङ्गस्य प्रतापैकभूमिः ॥ [२४] स्वस्ति शकवर्षे १३०७

(३७) प्रवर्त्तमाने क्रोधनवत्सरे फाल्गुनमासे कृष्णपक्षे द्वितीयायां तिथौ शुक्रवारे ॥अस्ति त्रि-

(३८) रतीर्णवर्णाटधरामंडलमध्यग । विषयः कुंतलो नाम्रा भूकांताकुंतलोप-

(३९) म ॥ [२५] विचित्ररत्नरुचिरं तत्रास्ति विजयाभिधं ।

नगरं सौधसंदोहदर्शिताकांडचंद्रिकं ॥ [२६]

(४०) मणिकुट्टिमवीथीषु मुक्तासैकतसेतुभिः । दा [नं] वृत्ति निरंधाना यत्र क्रीडंति बालिका ॥ [२७]

(४१) तस्मिन्निरुगदण्डेशः पुरे चारु शिलामयं । श्रीकुंथुजिननाथस्य चैत्यालयमचीकरत् ॥[२८]

(४२) भद्रमस्तु जिनशासनाय ॥

इस शिलालेख के ३रे-४थे पद्यों से आचार्य पद्मनन्दी के पांच अपरनाम (१) कुंडकुंद, (२) वक्रग्रीव, (३) महामति, (४) एलाचार्य और (५) गृद्धपिच्छ प्रकट होते हैं। भ० धर्मभूषणादि के ज्ञानादि गुणों का बखान है। दशवें श्लोक में उन साधुवेषियों पर आक्षेप किया है जो ज्ञान से रहित थे और केवल अपना पेट भरना जानते थे। भ० सिंहनन्दी को ११ वें श्लोक में जिनधर्मरूपी पवित्र प्रासाद का स्तम्भ कहा है। १३-१४ श्लोकों से भ० धर्मभूषण द्वि० की विद्वत्ता प्रकट है—उनका अपरनाम भट्टारकमुनि था—राजा लोग उनके समक्ष करबद्ध उपस्थित रहते थे। दंडाधिप बैच तीन शक्तियों (प्रभाव, उत्साह, मंत्र) से युक्त थे। रणक्षेत्र में वह राजा हरिहर के तीसरे हाथ थे। इन्हीं के पुत्र इरुग थे, जिन्होंने लोक का मनोरंजन किया था। उनकी कीर्ति लोक व्यापी थी और वह स्याद्वादमत की सर्वोत्कृष्टता का उच्च घोष करती थी। श्लोक २३ से प्रकट है कि दंडेश इरुग का धनुष लोगों को सम्यक्चारित्र की शिक्षा देता है। हरिहर की राज्य लक्ष्मी की श्रीवृद्धि उन्होंने की थी। सिंहनन्दी गुरु के चरणों के वह भक्त थे। २६-२७ वें श्लोकों में विजयनगर की विशालता का चित्रण है, जो रत्नों से जाज्वल्यमान थी। वहां की सड़कों पर बहुमूल्य रत्न जड़े थे। वहीं इरुग ने कुंथुजिनालय बनवाया था।

❀ डॉ० हल्श ने बैच को चैच पढ़ा है, यथार्थ नाम बैचप्प है।

विजयनगर के खंडहरों में एक जीर्ण शीर्ण मंदिर और है। उसके मुख्य प्रवेशद्वार पर निम्नलिखित शिलालेख अङ्कित है जो वहां सब प्राचीन है —

(१) शुभमस्तु॥ श्रीमत्परमगंभीरस्याद्वादामोघलांछन (।) जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिन शासनं॥ (१) श्रीमद्यादववान्वयान्वपूर्णचंद्रस्य (') श्रीबुक्कपृथ्वी भुज ( ) पुण्य (परिपा)

(२) कारिणतमूर्त्तेस्य श्रीवीरहरिहरमहाराजस्य परायात्वतारश्रीराहेवराजादिर विषयश्रीवीर विजयभूपतिरभजातस्य

(३) स्मादोर्दण्डद्वेरिव महामाखिक्यकोटो नानिप्रतारस्थिरीकृतमाप्राभवर्सिद्दाम्न । राजाधिराज राजपरमेश्वरादिविरुदविख्यातो गुणनिधिरभि

(४) नवदेवराजमहाराजो निजाज्ञापरिपालितकर्नाटदेशमध्यवर्त्तिन स्वावासभूतविजयनगरस्य मधुक नापणवीथ्यामात्मदत्तारमामर्क

(५) तिधर्मप्रवृत्तये । सकलज्ञानसाम्राज्यविराजमानस्य स्याद्वादविद्याप्रकल्पदीयस्य पार्श्व नाथस्यार्हत शिलामय चैत्यालयमचीकरत् (॥)

(६) दश कर्नाटनामा भूदावास मनेर्भाहीं । विद्ययति य स्वर्ग पुरोग शाशनाश्रय ॥ (२) विजयनगराति तस्मिन्नगरी नगरीति

(७) रूपहृग्याल्ते । नगरिषु नगरी यथा न गरायस्वय गुरुभिरैश्वर्यैः॥ (३) कनकोज्वलमाल ररिमजालै परिल्पोपुप्रतिबिंबनैरल य (।)

(८) वसुधैव निभाति याद्रयाचिर तराकरमेखलापरीता॥ श्रीमानुदामनामा यदुकलतिलक स्मारमौद्वर्यैमीमार्ध मानुमा

(९) मिरामाकृतिरवनितले भाति भाग्यात्तभूमा (।) विक्रोग्याशावदिक्षो निमतधरणिभृत्पकज श्रेणिनिक (।) चोव्वो आगत्ति बुक्काचितिपति

(१०) ररिभूभ्रुन्द्रिरिव पृत्क॥ (४) तत्प्राक्षा मावतारस्फुरति हरिहरक्ष्मापतिश्रुतिसारो दारिद्र स्पारवाराकरतरणविधौ विष्णुरत्नयधार । भू

(११) दानस्वर्णदानानुकृतपरशुपृथ्वभिनीश्रुसुनुस्फाराकूपारतीरावधिनिहितजयस्तम्भविन्यस्त कीर्त्ति ॥ (५) तेनाजपरिरातत्तन्जशिर

(१२) स्तोमस्फुरच्चैमरप्रसुतोरलदीविकापरिपामयाद्वा जनीराजन । विद्वन्मैरवमंडलाहिमकरो (वि) पवातव कपाकर ( ) श्रेयान्व रर

(१३) माम्यपपृतर श्रीदेवराजेश्वर॥ (६) तज्ज मास्मिन्द्रायो ज (ग) ति विजयते पुण्य धारिप्रमायो दानप्रयस्तार्थिर्द्पो विजयनरपति र्स

(१४) स्तितारा (ति सेग । प्रयुधजैत्रयात्रापममपमद्भूतकेतुप्रभूत(रुहा)य(द्वा) रयोपहृग्याप्रतिहतविमतौघपताप्रत्रीर॥ (७)

(१५) तस्मादस्माज्जितात्माजनि जगति यथा जंभजेनुर्जयंतो राजा श्रीदेवराजो विजयनृपति-वाराशिराकाशशांक । कोपाटोपप्रवृत्तप्रबलरणमिलद्विप्रतीपक्ष-

(१६) मापप्राणश्रेणिनभस्वन्निवहकवलनव्यग्रभव्यद्गोररोंद्र ॥ (८) वीरश्रीदेवराजो विजयनृपताप-स्सारसंजातमूर्तिर्भर्त्ता भूमेर्विभाति प्रततरिपुततेरार्त्तिजातस्य हर्त्ता ।

(१७) क्रूरक्रोधेद्धयुद्धोद्धरकरटिघटाकर्णशूर्पप्रसर्पद्वातव्रातोत्थानप्रतिहतविमतादभ्रभुल्यभ्रसंघ. ॥ (९) यद्धाटीघोरघोटीखुरदलितधरारेणुभिर्व्वीर्य्यवन्हेर्द्-

(१८) म (स्तो) मायमाने प्रतिनृपतिगणस्त्रीदृशां साश्रुधारा। प्रोद्यद्दर्पप्रभूतप्रतिभटसुभटा-स्फोटनाटोपजाग्रत्कोपोल्काग्रांधकारद्युमणिरुदयते देवराजेश्वरोयं ॥ (१०)

(१९) विश्वस्मिन्विजयक्षितीशजनुष श्रीदेवराजेशितुर्ल्लक्ष्मीं कीर्त्तिमितांबुजं कलयते शौर्य्यांख्य सूर्य्योदयात्। आशा यत्र पलाशतामुपगता ।

(२०) स्वर्णाचलः कर्णिकाभृङ्गा दिक्षु मतंगजा जलधयो मारंदबिंदूत्कराः ॥ (११) विरराजे विजयात्मजे वितरति श्रीदेवराजेश्वरे कर्णस्याजनि च-

(२१) र्णना विगलिता वान्या दधीच्यादयः । मेघागमा ि मोघता परिगता चिंता न चिंताम (णे) · स्वल्पा कल्पमहीरुहा प्रथयते स्वर्णे चिकी नीचतां ॥ (१२)

(२२) सोयं कीर्त्तिसरस्वती वसुमतीवाणीवधूभिस्समं भव्यो दीव्यति देवराजनृपतिर्भूदेवदिव्य द्रुम । यद्दौरिर्व्वलियाचनाविरहितश्चंद्र कलं-

(२३) कोज्झित शक्रस्सत्यमगोत्रभिद्दिनकरश्चासत्पथोल्लंघनः ॥ (१३) मदनमनोहरमूर्त्ति. महिला-जनमानसारसंहरण । राजाधिराजराजादिमपदपरमेश्वरादिनि-

(२४) जबिरुद ॥ (१४) शक्तौ बुक्कमहीपालो दाने हरिहरेश्वर । शौर्य्ये श्रीदेवराजेशो ज्ञाने विजयभूपति. । (१५) सोयं श्रीदेवराजेशो विद्याविनयविश्रुत । प्रा-

(२५) गुक्तपुरवीथ्यंतः पर्णपूगीफलापणे ॥ (१६) शाकेब्दे प्रमिते याते वसुसिंधुगुणेंदुभि । पराभ-वाब्देकार्त्तिक्यां धर्मकीर्त्तिप्रवृत्तये ॥ (१७) स्या-

(२६) द्वादमतसमर्थ (न) खर्व्वितदुर्व्वादिगर्व्ववाग्वितते ( ) । अष्टादशदोषमहामदगज निकुरंब-महितमृगराज ॥ (१८) भव्यांभोरुहभानोरिन्द्रादिसु-

२७ रेंद्रवृंदवंद्यस्य । मुक्तिवधूप्रियभर्त्तु श्रीपार्श्वजि (ने) श्वरस्य करुणाब्धे ॥ (१९) भव्य-परितोषहेतुं शिलामयं सेतुमखिलधर्म्मस्य । चैत्यागारमचीकर-

(२८) दाधरणिद्युमणिहिमकरस्थैर्य्य ॥ (२०)

इस लेख से प्रकट है कि शक सं० १३४८ पराभव वर्ष में विजयनगर की पानसुपारी नामक गली मे महाराजाधिराज देवराज द्वितीय ने श्री अर्हत् पार्श्वनाथ का पाषाण का एक चैत्यालय बनवाया था । लेख मे विजयनगर के यादववंशी राजाओ की वंशावली निम्न प्रकार दी है —

१ यदुकुल के नृपति बुक्क,

२ उनके पुत्र हरिहर (द्वितीय) महाराज हुये,

३ उनके पुत्र देवराज (प्रथम) हुये,

४ उनके पुत्र विजय या वीरविजय हुये,

५ उनके पुत्र देवराज (द्वितीय) अथवा अभिनवदेवराज या वीरदेवराज महाराज, राजाधिराज, राजपरमेश्वर आदि हुये।

सम्राट देवराज द्वि० के राज्यकाल में ही अब्दुल रज्जाक नामक यात्री आया था। उसे समरकन्द के शाहरुख ने एलची के रूप में भेजा था। इस यात्री ने देवराज द्वि० के निम्न लिखित सिक्के लिखे हैं —

१ स्वर्ण —(१) वराह, (२) परताब = ½ वराह (३) फनम् = ¹⁄₁₀ परताब।

२ चांदी —तार = ⅙

तांबा —जीतल = ⅓ तार। इन सिक्कों पर हाथी या बैल का चिन्ह होता था और 'श्रीप्रतापदेवराय' लिखा रहता था। वराह pagoda के रूपमें होते थे। देवराज ने अपने साम्राज्य की नींव अपनी कुशल राजनीति और भुजविक्रम से सुदृढ बना दी थी। अपनी कीर्त्ति और पुण्यधर्म को यावच्चन्द्रदिवाकर स्थायी करने के लिये उन्होंने उपयुक्लिखित जिनमंदिर बनवाया था। म० पार्श्वनाथ को ज्ञान साम्राज्य का अधिनायक और स्याद्वाद का प्रचारक लिखा है। सम्राट् हरिहर द्वि० ने अपनी दिग्विजय के स्मारक रूप समुद्र तटके किनारे जयस्तंभों की कतार निर्मापी थी। देवराज की तलवार शत्रुओं के नाश करने के लिए हर समय तैयार रहती थी। शरणागत शत्रुओं को वह क्षमा कर देते थे। उनकी हाथियों की सेना के कान हिलाने से ही शत्रु दल उड़ जाता था। उनकी शरीराकृति कामदेव सदृश सुंदर थी। उनका गुत्ति नामक दुर्ग (Gooty in the Anantpur distt) प्रख्यात था। इस प्रकार विजय नगर में जैनधर्मका प्रभाव फैला हुआ था।*

---

* गत मार्च में मैं स्वयं हम्पि गया था। राजमहल, रानीवास, दरबार हाल आदि यहाँ के वर्तमान ध्वंसावशेषों को देखकर सहृदय दर्शकों के नेत्र तत्काल ही भर आते हैं। हम्पि के महत्त्वपूर्ण प्राचीन इतिहास से अपरिचित एक साधारण विचारशील दर्शक भी इन ध्वंसावशेषों को देखकर इसके गत वैभव को आसानी से परख लेगा। हम्पि के प्राचीन स्मारकों में यहाँ के जैन मन्दिर ही सर्व प्राचीन हैं। 'Hampi Ruins 'विजयनगर साम्राज्य' आदि रचनाओं के जिन रचयिताओं के कथनानुसार ये भव्य मन्दिर विजयनगर साम्राज्य के स्थापित होने के पूर्व ही विद्यमान थे। मन्दिरों की बनावट आदि से भी यह बात सत्य सिद्ध होती है। बल्कि जहाँ पर ये मन्दिर विराजमान हैं, वह स्थान इतना सुन्दर है कि

इसे नगर की नाक कहा जाय तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। घंटों बैठने पर भी यहाँ से हटने की इच्छा ही नहीं होती। हम्पि के शिलामय ये भव्य मन्दिर उन्नत एवं विशाल एक चट्टान के ऊपर एक ही पंक्ति में सुन्दर ढंग से निर्मित हैं। इन मन्दिरों के नीचे थोड़ी ही दूर पर वह पुराना विशाल राजपथ मौजूद है, अब्दुल रज्ज़ाक के शब्दों में जिसमें उस जमाने में मोती, लाल, हीरा आदि बहुमूल्य रत्न बिका करते थे। बल्कि इसी राजपथ में हम्पि का सुविख्यात, विशाल विरूपाक्ष मन्दिर वर्तमान है। उक्त जैन मन्दिर और इस विरूपाक्ष मन्दिर के बीच में भी दो-चार छोटे-छोटे अन्यान्य हिन्दू मन्दिर उपस्थित हैं। इस विशाल राजपथ में आज भी उस जमाने के बहुत-से शिलामय भवनों के भग्नावशेष नज़र आते हैं। राजवीथि से थोड़ी ही दूर पर पूर्व दिशा में तुंगभद्रा नदी सुशान्त हो बह रही है। नदी के उस पार सघन जंगल बीच-बीच के बड़े-बड़े चट्टानों से दर्शकों को बड़ा ही चित्ताकर्षक मालूम देता है। इसी हम्पि को प्राचीन पम्पा कहते है, जहाँ पर रामायण काल में हनुमान ने राम-लक्ष्मण से भेंट की थी। खैर, हम्पि के विषय में यथावकाश मैं एक स्वतन्त्र लेख ही लिखूँगा। बल्कि 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' भाग २, पृष्ठ १३२ में 'विजयनगर साम्राज्य और जैनधर्म' शीर्षक मेरा एक लेख पहले प्रकाशित हो भी चुका है।

—के० भुजबली शास्त्री

पार्श्वदेवकृत 'संगीतसमयसार'

[ले० श्रीयुत बा० अ० नारायण मोरेश्वर खरे]

अनु० शान्तिलाल जैन, शास्त्री, बनारस

[भाग १, किरण २, पृष्ठ ६० से आगे]

संगीतरत्नाकर में भी लिखा है कि मालवकैशिक ग्रामराग से ही मालवश्री की उत्पत्ति हुई है। उसका लक्षण इस प्रकार है।

मालवश्रीस्तदुद्भवा।

समस्वरा तारमन्द्रषड्जांशन्यासषड्जभाक्॥ सं रत्नाकर २ ७२

८ वराटी

विभाषा रागराजस्य पंचमस्य वराटिका।

धांशा षड्जग्रहन्यासा धतारा मन्द्रमध्यमा।

समश्लेषस्वरा पूर्णा शृंगारे याष्टिकोदिता॥ सं समयसार

संगीतसमयसार के कर्त्ता "याष्टिक" की वराटी राग की व्याख्या देते हैं। संगीतरत्नाकर की व्याख्या के अनुसार वराटीराग "भिन्नपंचम" ग्राम राग में से उत्पन्न हुआ है—

वराटी स्यात्तदुद्भवा।

धांशा षड्जग्रहन्यासा समन्द्रा तारधैवता।

समेत(समवेत)स्वरा गेया शृंगारे शार्ङ्गिसम्मता॥ सं रत्नाकर, २ ८६

दोनों के लक्षण समान हैं, केवल मन्द्र व्याप्ति में अन्तर है।

९ गौड

गौड स्याट्टक्करागाग निन्यासांशग्रहान्वित।

वर्जित पंचमेनैव रसे वीरे नियुज्यते।

रागे रगनिषादिन्या वदन्ति न तु मे मतम्॥ सं समयसार

रत्नाकर में टक्क राग के नीचे गौड़ राग का लक्षण इस प्रकार दिया है—

गौडस्तदंगविन्यासग्रहांशः पंचमोज्झित। सं रत्नाकर, २ ९२

गौड राग के लक्षण में दोनों ग्रन्थकार अपनी अपनी व्याख्या में पंचम को वर्जित मानते हैं, परन्तु रत्नाकर की व्याख्या में 'विन्यास' शब्द है। वहां नी-न्यास' ऐसा शब्द होना चाहिए। यदि संगीतसमयसार के लक्षण की परीक्षा करें तो उसमें यह स्पष्ट होता है कि केवल ग्रह, अंश, न्यास और स्वर बदलने से राग का स्वरूप ही भिन्न हो जाता है।

१०. धन्नासी

अंगं धन्नासिका प्रोक्ता शुद्धकैशिकमध्यमे ।
षड्जांशग्रहमन्यासा षाडवा ऋषभोज्झिता ।
गान्धारपंचमस्वल्पा रसे वीरे नियुज्यते ॥ सं. समयसार

सं. रत्नाकर में "शुद्धकैशिक मध्यम म ग्रामराग" के नीचे धन्नासी की व्याख्या इस प्रकार दी है—

तज्जा धन्नासिका षड्जग्रहांशन्यासमध्यमा ।
रिवर्जिता गपाल्पा च वीरे धीरैः प्रयुज्यते॥ सं. रत्नाकर, २-१००

दोनों के लक्षण एक ही है।

११. गुण्डकृतिः

देशहिन्दोलरागाग षड्जाशन्याससंयुता ।
रिधत्यक्ता गतारा च शेषैरान्दोलिता स्वरै ॥
पमन्द्रा हास्यशृंगारे गेया गुण्डकृतिर्भवेत् ॥ स. ससयसार

संगीतरत्नाकर में इसी का "गौडकृति" नाम है—

षड्जांशग्रहणन्यासां मतारां मपभूयसीम् ।
रिधत्यक्ता पमन्द्रा च तज्जा गौडकृतिं जगु ॥ सं. रत्नाकर, २-१३०

दोनों के लक्षण प्रायः मिलते जुलते है। परन्तु समयसार में "गतारा" लिखा है अर्थात् तार सप्तक के गन्धार स्वर तक उसकी व्याप्ति है; जबकि रत्नाकर में "मतारा" है जिसका अर्थ होता है "तार-म" तक व्याप्ति। इन दोनो में केवल इतना ही भेद है।

१२. गुर्जरी

रिग्रहाशा च मन्यासा जाता पंचमषाडवात् ।
ममन्द्रा च नितारा च रिधाभ्यामपि भूयसी ।
गुर्जरी ताडिता पूर्णा श्रृङ्गारे विनियुज्यते ॥ सं. समयसार

सगीतरत्नाकर में "पचम षाडव राग" के नीचे गुर्जरी की व्याख्या इस प्रकार दी है—

तज्जा गुर्जरिका मान्ता रिग्रहांशा ममध्यभाक् ।
रितारा-रिधभूयिष्ठा शृगारे ताडिता मता ॥ सं. रत्नाकर, २-८९

यहा दोनों के लक्षणों में थोड़ा भेद है। शायद छपाने में भूल हो अथवा मूल प्रति मे ही कुछ गड़बड़ हो। क्योकि चिह्नित शब्दों के सिवाय बाकी सभी लक्षण एक ही हैं; जैसे कि "रिग्रहाशा", "मन्यासा", "रिधाभ्यामपि भूयसी"। तथा "ताडिता" "शृंगारे" इत्यादि लक्षण भी एक ही है। "रितारारिधभूयिष्ठा" ऐसा रत्नाकर का पाठ है। उसके स्थान में "नितारारिधभूयिष्ठा" होना चाहिए क्योंकि तार री स्वर की व्याप्ति होने पर तो सामान्यतः राग की व्याप्ति दो सप्तक से कम ही होनी चाहिए। इसी प्रकार "ममध्यभाक्" के

स्थान पर मन्द्रभाक् होना चाहिए। क्योंकि इस राग कीव्याप्ति मन्द्र सप्तक में किस स्वर तक और तार सप्तक के किस स्वर तक होती है, इसका स्पष्टीकरण ऊपर के दो श्लोकों में है।

भाषाङ्गराग

१ वेलाउली (वेलावली)

ककुभप्रभवा भाषा या प्रोक्ता भोगवर्धिनी ।
वेलाउली तदङ्ग स्यात् परिपूर्णसमस्वरा ॥३४॥
धैवतांशग्रहन्यासा धतारा मन्द्रमध्यमा ।
षड्जेन कम्पिता सेय विप्रलम्भे नियुज्यते ॥३५॥

संगीतरत्नाकर में भी बतलाया है कि "ककुभ राग" में से निकली हुई "भोगवर्धिनी भाषा" में से वेलावली उत्पन्न हुई है—

तज्जा वेलावली तारधा गमन्द्रा समस्वरा ।
धांशन्तांशा कम्पषड्जा विप्रलम्भे हरिप्रिया ॥ २ ११५

इनमें लक्षण तो एक ही है, मात्र मन्द्रव्याप्ति के संबंध में मतभेद है।

१ सावरी (आसावरी)

ककुभोत्था रंग छाग धान्ता मध्यग्रहांशका (?) (माऽन्ना च मगल)
गतारा स्वल्पषड्जा च पंचमेन विवर्जिता ।
मन्द्रा सा सावरी ज्ञेया कर्तव्या करुणे रसे ॥३६॥ स समयसार

रत्नाकरे—रगति भाषा में से —

तद्भवाऽऽसावरी धान्ता गतारा मन्द्रमध्यमा ।
मग्रांशा स्वल्पषड्जा करुणे पंचमोज्झिता ॥

दोनों के लक्षण एक ही हैं। "मध्यग्रहांशका" में "मध्य" का अर्थ "मध्यमस्वर" समझना चाहिए। प्रयोग भी इसी अर्थ में है।

१३ देशाख्य

गान्धारपंचमा जाता ऋषभेण विवर्जिता ।
ग्रहांशन्यासमन्द्रधगान्धारा च समस्वरा ॥
निषादमन्द्रा गान्धारस्फुरितेन विराजिता ।
पाडवा यदि रागाग वर्जे पूर्ण च दृश्यते ॥
देशाख्य स समयसार

संगीतरत्नाकर में "गान्धारपंचम" ग्राम राग के नीचे देशाख्य का स्वरूप इस प्रकार दिया है—

तज्ञा स्फुरति गान्धारा देशाख्या वर्जितपंमा।
ग्रहांशन्यासगान्धारा निमन्द्रा च समस्वरा ॥सं. रत्नाकर

संगीतरत्नाकर का उपर्युक्त श्लोक त्रुटित प्रतीत होता है। तो भी उसमें आया हुआ लक्षण संगीतरत्नाकर (?) के साथ मिलता है। "षाडवा यदि रागांगं वंशे पूर्णं च दृश्यते" इस पंक्ति का सम्बन्ध ठीक ठीक ज्ञात नहीं होता।

१४. देशी

स्याद (स्यादंगर) रंगरेव (?) गुप्तस्य गमन्द्रा पंचमोज्झिता।
ऋषभाकग्रहन्यासा तथा समनिभूयसी।
देशी नाम प्रयोक्तव्या रागोऽयं करुणे रसे ॥स समयसार

संगीतरत्नाकर मे भी ऐसा ही लक्षण है और वह "रवगुप्तराग" के नीचे ही दिया है—

तज्ञा देशी रिग्राहांशन्यासा पंचमवर्जिता।
गान्धारमन्द्रा करुणे गेया मनिसभूयसी।
देशी नाम प्रयोक्तव्या रागोऽयं करुणे रसे ॥सं. रत्नाकर, २-१०३

देशी राग के दोनो के लक्षण देखने पर समान ही प्रतीत होते है। इस प्रका पार्श्वदेव के दिए हुए "रागांग राग" हम देख गए। अब कुछ "भाषांग राग" (?) और "उपांग राग" देखें।

उपांग राग

१. भैरवी

भिन्नषड्जसमुद्भूता धांशन्यासग्रहान्विता।
समशेषस्वरा पूर्णांगान्विता तारमन्द्रयो ।
देवादिप्रार्थनाया तु भैरवी विनियुज्यते ॥स. समयसार
धांशन्यासग्रहा तारमन्द्रगान्धारशोभिता।
भैरवी भैरवोपाग समशेषस्वरा भवेत् ॥सं. रत्नाकर, २-१४४

इन दोनो के लक्षण समान ही है। पहले मे "भिन्नषड्जसमुद्भूता" कहा है और दूसरे (सं रत्नाकर) मे "भैरवी भैरवोपागं" कहा है। इनका अर्थ एक ही होता है क्योंकि भैरव राग भी "भिन्नषड्ज" मे से ही उत्पन्न हुआ है यह हम ऊपर देख गए हैं। छह राग और छत्तीस (तीस ?) रागिनिओं के प्रपंच करने वाले ग्रन्थ भी भैरवी रागिनी को भैरवराग की स्त्री मानते है और ऐसा कहा है कि वह महादेव की पूजा करके प्रार्थना करती है। कि—

स्फटिकरचितपीठे रम्यकैलासशृंगे,
विकचकमलपत्रैरर्चयन्ती महेशम्।
करधृतघनवाद्या पीतवर्णायताक्षी,

सुकविभिरियमुक्ता भैरवी भैरवश्री ॥

मल्हार एव मल्हारी—

लक्षणं विनियोगश्च भवेन्मल्हारिकासमम्।

मल्हारस्य गतित्यागं पचमं स्फुरणं भवेत् ॥स समयसार

इसमें मल्हार राग का लक्षण देखने पर मल्हारी जैसे ही उसके स्वर प्रतीत हैं, परन्तु मल्हार में ग और नी स्वरों का त्याग बतलाया है। अब मल्हारी का लक्षण देखें—

मल्हारी—

आधालिकांगमल्हारी मध्यमांशग्रहान्विता।

रिमन्द्रा च गशून्या च शृंगारे ताडितस्वरा ॥

इसमें मल्हारी आधालिका का अंग है, ऐसा कहा है। अब संगीतरत्नाकर में आए हुए दोनों रागों के लक्षण की भी जाँच करें।

मल्हारी—

मल्हारी तदुपांगं स्याद्गहीना मन्द्रमध्यमा।

पंचमांशग्रहन्यासा शृंगारे ताडिता मता ॥स रत्नाकर, अ० २ १५६

"आंधाली भाषाराग" के नीचे ही मल्हारी राग दिया है। जिस प्रकार मल्हारी के लक्षण के विषय में दोनों ग्रन्थकारों का मतभेद है—एक में "मध्यमांश" है, दूसरे में "पंचमांश" है—उसी प्रकार एक में "रिमन्द्रा" अर्थात ऋषभ स्वर तक मन्द्रव्याप्ति है तो दूसरे में "मन्द्रमध्यम स्वर" तक है।

अब मल्हार —

आधाल्युपांगमल्हारः षड्जपंचमवर्जितः।

धन्यासांशग्रहो मन्द्रगान्धारतारसप्तमः ॥ स रत्नाकर, अ० २-१५७

मल्हार राग आंधाली राग का उपांग राग है। इसमें षड्ज और पंचम स्वर वर्जित है। धैवत अंश, ग्रह और न्यास है। मन्द्रसप्तक में "गान्धार" स्वर तक और तारसप्तक में "सप्तम" अर्थात् "निषाद" स्वर तक उसकी व्याप्ति है।

मल्हार राग के विषय में दोनों ग्रंथों में पूरा मतभेद दिखाई देता है। एक में "ग नी" स्वरों का निषेध वर्णित है तो दूसरे में "सा प" का। दोनों केवल आंधाली का उपांग मात्र मानते हैं।

इसलिए थाट (ठाट) तो एक ही होगा।

रागों के ऊपर इतना विवेचन पर्याप्त होगा। राग के लक्षण दो प्रकार के दिए हैं—सामान्य और विशेष उनमें प्रत्येक के चार प्रकार के लक्षण हैं। अंश स्वर की व्याख्या दस लक्षणों से युक्त दी है जो कि नाट्यशास्त्र में से ही ली गई है।

सं. नोटः इस 'संगीत-समयसार' के रचयिता पार्श्वदेव निस्संदेह जैन धर्मावलम्वी है, यह बात आगे के फुट नोटों से स्वय स्पष्टहो जायगी। अत' यहां पर इस बात की अधिक छानबीन करने की आवश्यकता नहीं दीखती। इनके समय के सम्बन्ध में मोरेश्वरजी का कहना है कि "ग्रन्थकार स्वयं द्वितीय अधिकरण के प्रथम श्लोक में ही भोजराज और सोमेश्वर का उल्लेख करते है। भोजराज का समय ई० सन् १०५३ और सोमेश्वर का ई० सन् ११८३ है। इस प्रमाण से ग्रन्थकार अथवा ग्रन्थ का समय ई० सन् ११८३ के बाद का सिद्ध होता है।" इसी विषय पर 'Classical Sanskrit Literaturc' के विद्वान् लेखक एम. कृष्णमाचारियर ने निम्न प्रकार अपना अभिप्राय व्यक्त किया है: "यह (पार्श्वदेव) भोजराज, सोमेश्वर एव परमार्दिन् का उल्लेख करते है और स्वयं सिंग (सिंह) भूपाल के द्वारा स्मरण किये गये है। अत' आप १३ वीं शताब्दी में अवश्य जीवित थे।"* इस प्रकार प्रार्श्वदेव के समय के सम्बन्ध में दोनों विद्वान् एकमत है।

अब पार्श्वदेव के वंश तथा गुरु-परम्परा को लीजिये। इस संबंध में मोरेश्वरजी तो सर्वथा मौन है। हा, कृष्णमाचारियर इन्हे स्पष्ट श्रीकान्त जाति के आदिदेव एवं गौरी के पुत्र तथा महादेवार्य के शिष्य बतलाते है।† ज्ञात होता है कि उक्त विद्वान् को संगीत-समयसार की किसी हस्तलिखित प्रति में यह बात उपलब्ध हुई होगी। क्योंकि त्रावंकोर से प्रकाशित संगीतसमयसार की मुद्रित प्रति में कहीं भी इनके माता-पिता के नाम नहीं मिलते है। पार्श्वदेव की 'श्रुतिज्ञानचक्रवर्त्ती,' 'संगीताकर' आदि उपाधियों से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि आप सगीतशास्त्र के एक प्रकाण्ड विद्वान् थे। वास्तव में इनका संगीत-समयसार ग्रन्थ अपने विषय की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। जहाँ तक मेरा खयाल है कि संगीत-विषय-प्रतिपादक स्वतन्त्र जैन कृतियों में यह संगीतसमयसार ही सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ है। कवि पार्श्वदेव के मत से सगीत ही मोक्षप्राप्ति का एक सुगम उपाय है, दर्शनशास्त्र नहीं। कहने का आशय यही है कि जैनधर्म मे भी संगीत की पर्याप्त प्रतिष्ठा है। हमें स्थानाङ्गसूत्र पर की अभयदेव की टीका (ई० सन् १६०३), भद्रबाहुकृत कल्पसूत्र पर की विनयविजय (ई० सन् १७ वीं शताब्दी) की टीका, हरिभद्रकृत आवश्यकवृत्ति पर का हेमचन्द्र (ई० सन् ११ वीं शताब्दी) का टिप्पण, श्राद्धप्रतिक्रमण पर की रत्नशेखर की टीका (ई० सन् १४९६) और अनुयोगद्वारसूत्र पर का मलधारी हेमचन्द्र (ई० सद् १२ वीं

*—Classical Sanskrit Literature. पृष्ठ ८५५।

†—"श्रीमदभयचन्द्रमुनीन्द्रचरणकमलमधुकरायितमस्तकमहादेवार्यशिष्यस्वरविमलविद्यापुत्र-सम्यक्त्वचूडामणिभरतभाण्डीकभापाप्रवीणश्रुतिज्ञानचक्रवर्तिसङ्गीताकरनामधेयपार्श्वदेवविरचिते सङ्गीतसमयसारे" परन्तु संगीतसमयसार की मुद्रित प्रति मे यह अंश इस प्रकार मिलता है: "श्रीमदभिनवभरताचार्यसरविमलहेम्मणार्यविद्यापुत्रश्रुतिज्ञानच(क्र)वार्तिसङ्गीताकरनामधेयपार्श्व-देवविरचिते सङ्गीतसमयसारे"।

पंचदश अधिकार—इसमें वाष्प के भेद, स्वरूप तथा परिहार उक्त हैं।

षोडश अधिकार—इसमें नागाकृष्टि, नागसहागमन, विषभक्षण का क्रम, शब्दनिर्विष-मन्त्रविधान, भूतनिर्विषविधान, सर्पोच्चाटन, विष के लिये कवलप्रयोग, वमनौषध, उपनाह (व्रण बांधने का विधान), विषज व्रण के लिये औषध, मूषकवृषभाद्युच्चाटन, वृश्चिकाद्युच्चाटन तैलिक औषध, विषव्रणहारक मलहम, व्याघ्रमुखस्तम्भनादि मन्त्रविधान, निर्विष के लिये मुद्रिकानिर्माणविधान और सर्वविष हरौषध आदि सभी संकीर्ण (फुटकर) विषय कहे गये हैं।

महत्त्वपूर्ण यह विषशास्त्र मद्रास विश्व-विद्यालय के कन्नड सीरिज़ में हाल ही में प्रकाशित हुआ है। इस बहुमूल्य कृति को प्रकाश में लाने वाला उक्त विश्व-विद्यालय धन्यवाद का पात्र है ही। साथ ही साथ इसके विद्वान् सम्पादक भी धन्यवाद के पात्र हैं। इसके लिये खासकर मित्रवर श्रीयुत पं० एच० शेष अय्यंगार विशेष प्रशंसा के पात्र हैं, जिनकी प्रबल प्रेरणा एवं अटूट परिश्रम से उक्त सीरिज़ में अबतक अमूल्य नव रत्न प्रकाश में आ सके जो कि प्रायः सभी जैन हैं। इस स्तुत्य कार्य के लिये जैन समाज श्रीयुत अय्यंगारजी का ऋणी रहेगा। आशा है कि अय्यंगारजी भविष्य में भी इसी प्रकार उत्तमोत्तम ग्रन्थ-रत्नों को प्रकाश में लाकर लोकहित एवं साहित्य-संसार को प्रसन्न करेंगे। अगर कोई प्रकाशनसंस्था इस ग्रन्थरत्न का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर देती तो हिन्दी-भाषा-भाषी जनता को भी लाभ होता। देखूँ, इस पुनीत कार्य के लिये कौन संस्था अपना कदम बढ़ाने का साहस करती है। बल्कि इससे संस्था को आर्थिक लाभ भी हो सकता है। क्योंकि यह एक लोकोपयोगी ग्रन्थ है।

तुलु देश में जैनधर्म*

[लि० श्रीयुत डा० बी० ए० सालेतोर एम० ए०, पी एच० डी०]

हमें तुलु देश में जैनधर्म के आगमन के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए हिन्दू और जैन परम्परागत गाथाओं, शिलालेखों और जैन ग्रन्थों का जो मूडबिद्रे और कारकल के जैन केन्द्रों के पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं—अध्ययन करना होगा। लेकिन उपर्युक्त अन्तिम आधार अप्राप्य हैं अत हमें सिर्फ जैन और हिन्दू परम्परागत गाथाओं पर अवलंबित रहना पड़ेगा, जिनकी पुष्टि तुलु देश में प्राप्त जैन शिलालेखों से भी होती है।

हिन्दू परम्परागत गाथा में जैन मुनियों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने तुलु देश के एक हिस्से में जैनधर्म का प्रचार किया था। विष्णुपुराण में ऐसा प्रमाण मिलता है कि नाभि और मेरु के पुत्र ऋषभ ने बहुत ही योग्यता और बुद्धिमानी से शासन किया, और अपने शासन-काल में अनेक यज्ञ किये। अंत में वे अपना राजपाट अपने बड़े पुत्र भरत को सौंप कर एक सन्यासी की हैसियत से स्वयं पुलस्त्य ऋषि के आश्रम में निवास करने के निमित्त चले गये। उन्हीं भरत के नाम पर इस भूमि का नाम भारतवर्ष पड़ा है। ऋषभ ने कठिन तपस्या की। उनका शरीर सूख कर काँटा हो गया।

भागवतपुराण में इस बड़े प्रचारक ऋषभजी के परिभ्रमण का पूर्ण उल्लेख मिलता है। जिस प्रकार कुम्हार का चाक स्वयं चलता है उसी प्रकार ऋषभजी का शरीर कोंक वेंकट, कुटक और दक्षिण कर्णाटक में गया। कुटक पहाड़ से सटे एक जंगल में उन्होंने अपने मुँह में कुछ चमकने कंकड़ के टुकड़े को रख लिया, और उसके बाद नंगे हो, एक उन्मत्त की भांति बिखरे बालों को धूल धूसरित करते हुए घूमने लगे। दुर्भाग्यवश उस जंगल में बाँसों की रगड़ से भयानक आग लग गयी, जिससे सारे जंगल के साथ उनका शरीर भी जल कर खाक हो गया। कोंक, वेंकट, और कुटक के राजा को ऋषभजी के इस आचरण का जब खबर मिली, तो उन्होंने अपना धर्म छोड़कर, अपनी समझ और पसंद के मुताबिक, एक झूठे धर्म का सृजन किया।(!)†

ऊपर जो कुटक का नाम आया है, उसे तुलु देश का कुटकग्राम समझना चाहिए। उपर्युक्त उल्लेखों से पता चलता है कि तुलु देश में जैनों के आगमन की तिथि ऋषभ के प्रारम्भिक काल कही जा सकती है। ऋषभ ही प्रथम तीर्थङ्कर हैं। उस वक्त जैनों का प्रचार-स्थान कुटकग्राम और हट्टंगडि के बीच कहीं पर था। आज भी हट्टंगडि जैनों का पवित्र क्षेत्र माना जाता है। यदि हम ऋषभ के परिभ्रमण की कथा की वास्तविकता पर

---

* विद्वान् लेखक के द्वारा लिखे गये महत्त्वपूर्ण इस प्रकरण की कई बातों पर मेरा मतभेद है। अतः यथावकाश इस विषय पर मैं एक स्वतंत्र लेख लिखूंगा। —के० भुजबली शास्त्री

† यह कथन साम्प्रदायिक है। सं०

१०८३ (ए. डी. ११६१-६२) में [illegible] में [illegible] थी। [illegible] शिलालेख में [illegible] है। [illegible] से पता चलता है कि [illegible] शिलालेखों से पता चलता है कि [illegible] ने जैनधर्म को [illegible] थी। [illegible] से यह पता चलता है कि मूडबिद्री में [illegible] आलुपेन्द्रदेव [illegible] थी। उन्होंने जैन [illegible] का [illegible] और [illegible] किया था।

बारकूर में जो शिलालेख प्राप्त हुआ है, इससे पता चलता है कि [illegible] ने भी जैनधर्म को सहायता दी थी। शाका [illegible] (ए. डी. [illegible]) में [illegible] जैन मन्दिर के लिए किसी ने भूमिदान किया था। मूडबिद्री के [illegible] बसदि में एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। यह [illegible] राजा कुलशेखर आलुपेन्द्रदेव, तीसरा, (ए.डी. १३८४) के समय का है। इससे पता चलता है कि [illegible] राजा का झुकाव जैनधर्म की ओर पूर्ण रूप से था। [illegible] का पूरा उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त घटना उस समय की है, जब जैनधर्म कारकूर, वेणूर, बारकूर और मूडबिद्री में पूर्ण रूप से जम चुका था और कारकूर में उसका प्रदर्शन हो रहा था, × शाका १३३१ (ए.डी. १४०८) के शिला लेख से पता चलता है कि राजा वीरभैरव और उसके पुत्र पाण्ड्यभूपाल ने पार्श्वनाथ की मूर्ति के लिए भूमिदान किया था और कारकूर ग्राम में मुनियों को आहार कराया था। यहाँ एक बात और लिख देना उपयुक्त होगा कि वारकूर की जैन बस्ति में प्राप्त एक शिलालेख से पता चलता है कि चारुकीर्ति पंडितदेव ने कारकूर में आदि परमेश्वर की सेवा के लिये भूमिदान दिया था। यह शाका १४२१ (ए.डी. १४९९—१५००) की बात है।*

* बी० ए० सालेतोर की 'Ancient Karnataka' ((Vol I. History of Tuluva) नामक अङ्गरेजी पुस्तक के 'Jainism' शीर्षक प्रकरण का स्वतन्त्रानुवाद।

—अनुवादक बनारसीप्रसाद भोजपुरी, साहित्यरत्न, रत्ननिधि

× श्रीयुत ए० गणपतिराव के कथनानुसार सन् ७८ में ही यहाँ पर जैनधर्म मौजूद था। सं०

जैन कविताओं में ऐतिहासिक प्रसंग

[ले० आयुत कालीपद मित्र, एम ए]

इस लेख में मैं मेसर्स अगरचन्द नाहटा तथा भँवरलाल नाहटा (मुद्रित वि० स० १९९४) द्वारा सम्पादित 'ऐतिहासिक जैन काव्य समह' म आये हुए व्यक्तियों के आकस्मिक प्रसंगों का वर्णन करूँगा। यह अपभ्रंश, राजस्थानी तथा हिन्दी में रचे गये हैं।

सम्पादकों का कथन है कि इनम लगभग सभी खरतरगच्छ सम्प्रदाय मे सम्बधित हैं जो बीकानेर में फैला था और ये विजयसिंहसूरि, विजयप्रकाशरास तथा एक अन्य कविता के अतिरिक्त तपागच्छ सम्प्रदाय से सम्बधित कविताओं का समह करने मे असफल रहे हैं।

कविताएँ यशगान हैं और उनका मुख्य ध्येय जैन शासन की प्रभावना है। ऐतिहासिक घटनाओं तथा व्यक्तियों का वर्णन आकस्मिक वर्णन है। इनम जैन मुनियों का राजा महाराजा द्वारा सम्मानित होने का वर्णन है। कुछ के विषय में कहा गया है कि उन्होंने केवल अपनी पवित्रता तथा तप द्वारा ही नहीं वरन् चमत्कारों के प्रदर्शन द्वारा भी इन राजाओं पर अपना प्रभाव स्थापित किया है। इन कविताओं में ऐतिहासिक सत्य गर्भित है, यद्यपि ये प्रामाणिक नहीं कहा जा सकतीं। वैज्ञानिक निरीक्षण तथा समकालीन प्रमाणों से तुलना के पश्चात् ही यह घटनाएँ विश्वास योग्य समझी जा सकती हैं।

जिनप्रभसूरि के गुणगानों म कथन है कि दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद ने भी उनकी प्रशंसा की थी —

> राउ महमद साह जिणि निय गुण रजियउ ।
> मेद मडल दिल्लिय पुरि, जिण धरमु प्रकट किउ ।
> तसु गछ धुरधरणु मयणि, जिणदेव सूरि राउ । श्रीजिणप्रभसूरिगीतम् ।

पौष मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी, शनिवार वि० स० १३८५ (१३२८ ई०) को यह मुहम्मद शाह आसापति दिल्ली की सभा में पधारे। सुल्तान ने उनका सम्मान किया, अपने निकट स्थान दिया और धन, भूमि, अश्व, गज आदि उनको भेंट किए। उन्होंने इसे स्वीकार न किया क्योंकि यह चारित्र नियमों के विपरीत थे। परन्तु सुल्तान का सम्मान करने के लिए उन्होंने कुछ वस्त्र स्वीकार किए। सुल्तान ने उनके गुणगान के पश्चात् 'शाही मुहर' से एक नवीन वस्ती (उपाश्रय—साधुओं का विश्रामगृह) के निर्माण कराने का आज्ञापत्र निकाला। उनके सम्मान में एक उत्सव हुआ और जुलूस नवयुवतियों के नृत्य तथा आनगान सहित पोषधशाला को चला। वह सामन्तों से घिरे हुए सुल्तान के हाथी पर आरूढ थे।

(गाथा २—९ जिनप्रभसूरिगीतम्)

तेर पंचासियइ पोस सुदि आठम सणिहवारो ।
भेटिउ असपते 'महमदो' सुगुरु ढोलिय नयरे ॥२॥
श्रीमुख सलहिउ पातसाह विविदपरि मुणिसीहो ॥५॥
देइ फुरमाणु अनुकारवाई, नव वसित राय सुजाणु ॥७॥

जिनप्रभसूरि के पट्टधर जिनदेवसूरि भी मुहम्मद शाह द्वारा सम्मानित हुए थे। मुहम्मद शाह ने उनकी वाणी से प्रभावित होकर कन्नानपुर को अथवा वहाँ से आई हुई वीर जिन की प्रतिमा की स्थापना दिल्ली में एक पावस-अवसर पर एक पवित्र दिवस को की थी।

वंदहु भविपद्दो सुगुरु जिणदेवसुरि ढिल्लिय वरनयरि देसणउ
जेह कन्नाणपुर मंडणु सामिउ वीर जिणु ।
महमदराय समप्पिउं थापिउ सुभ लगनि सुभ दिवसि ॥२॥

—श्रीजिणदेवसूरिगीतम् ।

एक अन्य गीत में जिनप्रभसूरि के असपति कुतुबुद्दीन द्वारा सम्मान का कथन है जिसने उनको कृष्ण पक्ष के चतुर्थ तथा अष्टम वार को आमंत्रित किया था।

आठहि आठमिहि चउथी, तेडावइ सुरताणु ए ।
पुह सितमुख जिणप्रभसूरि चलियउ जिमि ससि इंदु विमाणिए ॥
'असपति कुतुबदीनु' मनि रंजिउ दीठेल जिणप्रभसूरीए ।

जिनचन्द्रसूरि (जिनप्रबोधसूरि के पट्टधर) ने सुल्तान कुतुबुद्दीन को भी प्रसन्न किया।

कुतुबदीन सुरतान राउ, रंजिउ समनोहरु ।
जामि पयडउ जिणचन्द सूरि, सूरिहं सिर सेहरु ॥६॥

—श्रीजिनकुशलसूरिपट्टाभिषेकरास ।

अब हमें देखना है कि यह सुल्तान कौन हैं ? जिनप्रभसूरि सुल्तान से १३२८ ई० में मिले थे। मुहम्मद बिन तुगलक १३२५ ई० में सिंहासनारूढ़ हुए और १३५१ ई० को स्वर्ग सिधारे। अतः मुहम्मद शाह मुहम्मद तुगलक ही होंगे।

मुहम्मद शाह एक परिवर्त्तनशील गुणी पुरुष था और अनेक विज्ञानों का ज्ञाता था। ज़ियाउद्दीन बर्नी और इब्न बतूता ने उसका एक भयानक चरित्र चित्रण किया है। परन्तु दोनों ही उनकी महान विद्वत्ता, तर्कशास्त्र पर आधिपत्य एवं अरस्तू सदृश महान् दर्शनशास्त्रज्ञ होना एक मत से स्वीकार करते हैं। उसका स्वतंत्र विचारक, तार्किक, सभ्य, तथा विद्वानों का एक परम मित्र होना तो निर्विवाद है। ज़ियाउद्दीन शोक प्रकट करते हुए कहता है "दर्शनशास्त्र के नियमों का जो कि हृदय को निष्ठुर और निर्मोह बना देते हैं उस पर गहरा प्रभाव पड़ा था। ... मुसल्मानों को दण्ड देना और सत्य धर्मानुयायियों को सज़ा देना

उसकी प्रकृति तथा व्यसन बन गए थे"[1] इसके विरुद्ध ब्राउन का मत है कि "उसकी समस्त मुद्राओं म उसकी रूढ़िवादिता प्रकट होती है। कल्पना ही नहीं वरन सुल्तान की गाजी की उपाधि धारण करना भी यही सिद्धि करता है[2]"

ऐसा प्रकट होता है कि वह रूढ़िवादी नहीं था वरन् एक प्राचीन प्रथा का पालन कर रहा था क्योंकि वह शेख निजामुद्दीन औलिया का जो कि 'समा' (इन्य-ग्राही नृत्य तथा वाद्य-गान) में ही सदा तल्लीन रहता था और एक प्रशंसक था, यद्यपि यह रूढ़िवादी के सिद्धान्त के प्रतिकूल है। उसने नागरी लिपि में एक उपदेश अपनी प्रिय मुद्राओं पर अंकित कराया था तथा वह अवसरों व अवसर पर संस्कृत के उपयोग से सहमत था। वह धार्मिक तत्त्ववेत्ताओं के वादविवाद में बड़ा रस लेता था। इस कार्य में वह अकबर के समान था जो फतहपुर सीकरी के इबादत खाना में इस प्रकार के विवादों को सुनता था। अत यह किसी प्रकार आश्चर्यजनक नहीं कि उसने विद्वान् तथा सत जिनप्रभसूरि तथा उनके पट्टधर जिनदेवसूरि का सम्मान किया हो। ऐसा कथन है कि उसने दक्षिण भारत के एक महान जैन तार्किक का सम्मान किया था जिसने सुल्तान की राजसभा म बौद्ध विद्वानो तथा अन्य धर्मानुयायी पण्डितों को वादविवाद में पराजित कर प्रसिद्धि प्राप्त की थी। यह घटना १३२६ ई० से १३३७ ई० के मध्य हुई प्रतीत होता है।

'मुनीन्द्र वर्द्धमान के एक संस्कृत महाकाव्य 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' में निम्नांकित पद्य मिलते है।

> विद्यानन्दस्वामिन सूनुरथ सनात स सिंहकीर्तियतीन्द्र ।
> स्यात श्रीमान् पुण्यराशिर्जितमायो दानस्वर्णधेनुमजावर्देन ॥
> ग्रामेऽस्मन्[illegible]गिरि ज्ञाताशो महम्मदशाहु
> ग्रामदिल्लिपुर महम्मदसुल्तानाख्य साराज ।
> निर्जित्याशु सभायां जिनगुरुर्बौद्धान्दि × × × प्रथम
> श्रीमद्भट्टारकसिंहकीर्तिमुनिराट् नाम्नैकविद्यागुरु ॥

नागराज्य (मैसूर) के पद्मावती बस्ति के एक शिलालेख में एक इसी के समान वाक्य मिलता है। 'यामादि अन्यपर्वतदिक्ष्नमयो यद्धाल्यशाहु ग्रामादिल्लिपुर सुल्तानमहामात्य माराधृत निर्जित्याशु सभासन जिनगुरुर्बौद्धवादिविग्न श्रीमद्भट्टारकसिंहकीर्ति मुनिराट् ऐकविद्यागुरु ॥"

१ सर एच एलियट, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया भाग ३ पृ० २३६
२ ए. ३ ब्राउन "दि क्वायन्स ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ७२, ७४
३ Ms. No 253 Kha, जैन सिद्धान्त भवन [जैन सिद्धान्त भास्कर]

स्पष्टतया 'मुद' मुहम्मद शब्द का एक भाग है (अथवा महम्मद जो कि भूल से प्रायः महमूद पढ़ा जाता है) जो कि मिट गया है अथवा स्पष्ट नहीं है। राइस इसका मधुर (मुदा < मुदु < मृदु) अर्थ लगाते हैं और महमूद जोड देते हैं। डाक्टर सालेतोर इसे 'तत् न भूपनाह्यन्वेवृत' पढ़ते हैं और इस पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि राइस साहब ने 'वङ्गाख्य-देशावृत' पढ़ा।'

दशभक्त्यादि-महाशास्त्र[२] ने मोहम्मद (मुद नहीं) सुरित्राण और गंगाह्य-देश का वर्णन करके यह शंकाएं निर्मूल कर दी हैं। और राइस साहब के मत को बड़ी सहायता दी है।

[३]डाक्टर सालेतोर ने 'दश०' के रचियता वर्द्धमान की तिथि १३७८ अनुमान की है।[४] (गुरुपरम्परा मे अंत से विशालकीर्त्ति से गणना की गई है जिनकी तिथि १४६८ ई० है। मेरुनन्दि-वर्द्धमान-प्रभाचन्द्र-अमरकीर्त्ति-विशालकीर्त्ति इत्यादि प्रत्येक का समय ३० वर्ष निर्धारित किया है) *जिसका समर्थन श्रवणबेलगोल के १३७२ ई० के एक रेकार्ड (record)* से होता दीख पड़ता है। परन्तु 'दश०' मे एक श्लोक मिलता है कि वर्द्धमानने इसकी रचना ('शके वेदखराब्धिचन्द्रकलिते सम्वत्सरे श्रीप्लवे सिंहश्रावणिके प्रभाकरशिवे कृष्णाष्टमी-वासरे रोहिण्याम्' इत्यादि) शक सं० १४६३ (अथवा १४६४ यदि वेद ४ हों,[५] ३ न हों)= १५४१ ई० मे की। वास्तविक तिथि, तिथि सम्बन्धी अन्य बातो से निर्धारित की जा सकती हैं। वास्तविक तिथि कोई भी हो, रचियता ने 'दश०' मे नगर तालुक के शिलालेख के अनेक अंश उद्धृत किए हैं। चूंकि वह हमारी अपेक्षा शिलालेख की निर्माण-तिथि के अधिक निकट था, इसलिए यह अनुमान करना उचित ही होगा कि लेखक ने इस शिलालेख को उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों मे बीसवी शताब्दि की अपेक्षा अति उत्तम दशा मे पाया होगा। अत मेरे विचार से शिलालेख के प्रति उनका मत ही मान्य होना चाहिए।

' जिनप्रभसूरि अद्वितीय ज्ञानी, कवि विद्वान् व एक गण्य मान्य जैनाचार्य थे। मुनि जिनविजयजी स्वसम्पादित जिनप्रभसूरि के 'विविधतीर्थकल्प' मे कहते हैं कि आचार्य का सुल्तान मुहम्मद शाह के दरबार मे बहुत मान था इतना अधिक कि जितना हीरविजयसूरि का अकबर की राजसभा मे था। और सम्भवतः वही सर्व प्रथम जैनाचार्य थे जिन्होंने मुसलमान बादशाह के दरबार मे जैनधर्म की कीर्त्ति पताका फहराई थी।[६]

---

१ Karnatak Historical Review, IV pp 77-86

२ इसके विशेष परिचय के लिये मेरे द्वारा संपादित 'प्रशस्तिसंग्रह' देखें।—के० भुजबली शास्त्री

३ Mediaeval Jainism pp 370-71

४ ,, p 300,

५ 'वेद' का ४ ही लेना समुचित है।—के० भुजबली शास्त्री।

६ सिंघीजैनग्रन्थमाला—विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

आनरिक प्रमाणों द्वारा उनकी तिथि निर्धारित की जा सकती है। इस पुस्तक में सकलित कविताओं में सर्वप्रथम रचित कविता की तिथि "वमत्रगिरिकल्प" के अन्तिम चरण में ही है। इसकी प्रथम पक्ति इस प्रकार है 'वर्षे सिद्धा सरस्वद्रससिखिकुमिते विक्रमे। इसमें हमें वि० स० १३६४ (१३०७ ई०) की तिथि मिलती है। इस कविता का अत इस पक्ति स स्पष्ट है 'नदानेकपशक्तिमीताशुमने श्रीविक्रमोर्वीपते'। इससे हमें वि० स० १३८९ (१३३२) मिलती है। इस रचना के अन्य अशों से आभास मिलता है कि यह वि० स० १३६४ से पूर्व और १३८९ के पश्चात् रचे गए हैं।

इस रचना में हमारे वर्त्तमान विषय से सम्बन्धित श्रीजिनप्रभसूरि के कार्यों का वर्णन है। प्रस्तुत रचना 'कन्यानयनीयमहावीरप्रतिमाकल्प' म श्री महावीर की मूर्त्ति की स्थापना की घटना का वर्णन इस प्रकार है —

वि० स० १२२३ (११७६ ई०) में कौन देश के कन्नाननगर में यह मूर्त्ति विराजमान थी। वि० स० १२४८ (११९१ ई०) में जब चौहान वश का नेता पृथ्वीराज शहाबुद्दीन* द्वारा मारा गया, तब श्रेष्ठी रामदेव ने श्रावकों को एक पत्र लिखा कि तुर्कों का शासन आरम्भ हो गया है। महावीरजी की प्रतिमा को छुपाए रखिए। यह वि० स० १३११ तक रेत में छुपाए रक्खी गई। इस वर्ष एक बड़ा भयानक दुर्भिक्ष फैला। अत एक योजक नाम का सम्ई कन्नाननगर को छोड़कर अधिक उपजाऊ प्रांत की खोज में कयम्बसत्थल (?) में आया। उसे एक स्वप्न म प्रतिमा के सम्बन्ध म चेतावनी मिली। फलत उसने प्रतिमा खोज निकाली और उसे चैत्यालय में स्थापित कराया और पूजन करवाई। तुर्कों द्वारा अनेक उत्पात हुए। एक दिन प्रतिमा ■ प्रक्षाल के समय पसेव निकला और पोंछने पर भी फिर पसेव निकला। यह एक अशुभ चिन्ह था। दूसरे ही दिन जाट राजपूतों का आक्रमण हुआ। वि० स० १३८५ को आसीनगर का सिकन्दर आया और उसने साधुओं व श्रावकों को पकड़वा लिया, श्रीपार्श्वनाथजी की पाषाण मूर्त्ति को तोड़ डाला। परन्तु श्रीमहावीर की प्रतिमा को सुरक्षित और अक्षत अवस्था में ही एक गाड़ी में रखकर दिल्ली पहुचाई और सुल्तान की आज्ञा तक तुगलकाबाद के सुल्तान के कोषागार में रक्खा गए। इसी बीच म श्री महम्मद सुल्तान देवगिरि से जोगनीपुर आगया। एक समय खरतरगच्छ समुदाय के गौरव श्री जिनप्रभसूरि विहार करते हुये देहली आए। ज्योतिषी धाराधर के द्वारा उनके महान पाण्डित्य का हाल सुन कर सुल्तानने उसको श्रीमुनि के निकट भेजा जो मुनि को पौष शुक्ला द्वितीया को बुला लाया। श्रीसूरि महाराजाधिराज स मिले। उन्होंने इन्हें अपने निकट आसन दिया। उनसे कुशलक्षेम पूछा और अर्द्ध

*मुहम्मद गोरी।

वि० सं० १३८५ (१३२८ ई०) में देवगिरि से सुल्तान दिल्ली लौटे। (जो कि समकालीन इतिहास के अनुकूल ही है।) जब कि उनकी माता पीछे ही रह गई। श्रीसूरि की देवगिरि-यात्रा के लिए उनका वहाँ का निवास तथा दिल्ली को वापिसी के लिए समय देने के पश्चात् उनकी माता की वापिसी की घटना सन १३३१ ई० में हुई प्रकट होती है जिसके पश्चात् ही वि० स० १३८९ (१३३२ ई०) में श्रीसूरि ने पोषवशाला में जो उन्हें सुल्तानने अर्पण किया था, पदार्पण किया। जब सुल्तान विद्रोही शाह अफ़गान को वश में करने के लिए जा रहे थे और अभी कुछ दूर ही पहुंचे थे कि उन्हें यह सूचना मिली कि अब उनकी पूज्य माता मखदूम-ए- जहाँ' की दिल्ली में मृत्यु हो गई है। वह एक अत्यन्त चतुर और बुद्धिमती महिला थीं सुल्तान को घोर दुःख हुआ। उन्होंने अपनी माता (जो कि अपनी समस्त आयु राज-माता का सम्मान भोगती रही थीं) के प्रति उचित तथा हार्दिक सम्मान प्रकट किया।

ऐसा कथन है कि सुल्तान पूर्व-विजय को गया। बगावतें उठीं। १३३५ ई० में जब मारवाड़ के जलालुद्दीन आसफ़शाह ने विद्रोह किया सुल्तान स्वयं ही उसको दंड देने गया। १३३७ में बङ्गाल में विद्रोह हुए। सम्भवत इन्हीं में से किसी का उक्त रचनामें उल्लेख है। कुतल खाँ कुतलग खाँ (सुल्तान के शिक्षक कियाम अल्दीन की उपाधि) था। उसे एक अन्य उपाधि 'वकील-ए-दार' भी सुल्तान से मिली थी। वह एक सर्वप्रिय पुरुष था और देवगिरि का शासक नियत था।[१] देवगिरि से उसकी वापिसी पर प्रजा बहुत दुःखित हुई। 'खोजे जहाँ मलिक' 'ख्वाजा जहाँ' का उपनाम है। जो कि अहमद अयाज़ को अफ़ग़ानपुर के प्रसिद्ध मडप के निर्माण के लिए जिसमे गियासुद्दीन तुग़लक की मृत्यु हुई थी, मिला था। वह वजीरुल्मुल्क भी था।[२]

उबैद कवि ने एक असत्य चर्चा फैलाई कि सुल्तान गियासुद्दीन बहुत बीमार है और मलिक तिमर, मलिक तिगिन ··· मलिक काफ़ूर (राजमुद्रा रखने वाला) के निकट गया और अमीरों को बताया कि उलूग खां उन्हे सशंक दृष्टि से देखता है। गियासुद्दीनने सिरि के मैदान मे एक सार्वजनिक राजसभा की और उबैद कवि, काफ़ूर तथा अन्य विद्रोहियां की जीवित ही खाल खिंचवाई। इसलिए यह (मलिक काफ़ूर) वह व्यक्ति नहीं हो सकता जिसके हाथ से मुहम्मद तुग़लक ने श्रीसूरि के पैर पोछने को वस्त्र लिया था।[३]

---

१ Ibid pp. 63, 146, 171, Elliot of cit pp. 251, 253. App 571 Kasaid of Badr Chach

२ Ibid p, 83 वह मालिक जादा अहमद भी था।

३ Elliott op. cit, pp 203, 608 App D from 'Travels of Ibn Batuta, जिसमें कथन है कि शहजादा मुहम्मद तुगलक मुख्य उमराओं के सहित तैलिगाना गया था (तिमर, तिगिन और काफूर राजमुद्रा लगानेवाला मलिक इत्यादि) उसने विद्रोह फैलाने का प्रयत्न किया और उबैद कवि द्वारा गियासुद्दीन तुगलक के बारे में असत्य चर्चा फैलाई जिसने उबैद और काफूर को मृत्यु दंड दिया।

कुतुबुद्दीन के बारे मे इन कविताओ में कोई तिथि नहीं मिलती। हमे जिनप्रबोधसूरि के पट्टधर, जिनचन्द्रसूरि की तिथि ज्ञात है। वह वि० स० १३२४ सन् १२६७ ई० में उत्पन्न हुए और वि० स० १३७६ में उनकी मृत्यु हुई। कुतुबुद्दीन मुबारिक शाह खिल्जी शाँहशाह १३१६ ई० मे सिंहासनारूढ हुआ, १३२० ई० मे मार दिया गया। कविताओ का कुतुबुद्दीन सम्भवत वही है। ऐल्फिन्स्टन का मत है कि मुबारिक शाह के शासन काल मे राजसभा का वातावरण हिन्दुओं के अनुसार था। यह भेंट सम्भवत १३१८ ई० में खुसरो के अपने प्रभाव डालने से पूर्व (जिससे सर्वप्रथम उसकी मानसिक तत्पश्चात् शारीरिक मृत्यु हुई) हुइ होगी।

हमें अन्य साधनों से ज्ञात होता है कि सुल्तान मुबारिक शाहने समरसिंह नामधारी पाटन के एक प्रतिष्ठित जैनी को दिल्ली मे एक महत्त्वपूर्ण पद (व्यवहारी) पर नियत किया था। गियासुद्दीन समर सिंह को पुत्रवत् मानता था और उसे उसने तेलिंगाना भेजा जहाँ उसने अनेक जैन मदिर निर्मापित कराए। मुहम्मद उसे भ्रातृवत् मानता था और उसे तेलिंगाना का शासक नियत किया था। जिनप्रभ सूरि तथा महेन्द्रसूरि सुल्तान के प्रियजन थे।

[1]महेन्द्र सूरि के प्रति नयचन्द्र कहते हैं —

> एक सोऽय महात्मा न पर इति नृपश्रीमहम्मदशाहे।
> स्तोत्र प्रापत् स पाप त्तपयतु भगवान् श्रीमहेन्द्रप्रभुन ॥

अनुवादक श्रीयुत नेमिचन्द्र जैन,

नोट — श्री इत्यादि शब्द अनुवादक ने स्वय नामों के आगे जोड दिए हैं, क्योंकि हिन्दी भाषा मे महापुरुषों के पहिले सम्मान सूचक शब्दों की अनुपस्थिति अशिष्टता सूचक है, यद्यपि अग्रेजी में यह क्षम्य है।

---

[1] Proceedings of the 7th Oriental Conference P 630

पूर्व और पश्चिम में दर्शन की धारणा

[ले० श्रीयुत डा० देवराज एम० ए०, डी० फिल०]

दर्शन की समस्या क्या है ? और उसका प्रयोजन क्या है ? इस सम्बन्ध मे विभिन्न विचारको ने विभिन्न मत स्थिर किये हैं। यह बात किसी एक ही देश के दार्शनिको के ग्रन्थों से दर्शित की जा सकती है। ऐसी परिस्थिति मे विभिन्न देशो, विशेषत पूर्व और पश्चिम के दार्शनिकों मे एतद्विषयक मतभेद होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वस्तुत दर्शन की समस्या और प्रयोजन के बारे मे पूर्वी और पश्चिमी विचारको ने नितान्त भिन्न सम्मतियाँ प्रकट की हैं।

यदि हम योरुप के दार्शनिक इतिहास पर दृष्टिपात करें, तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि योरुपीय दर्शन का उद्देश्य, उसकी प्रमुख और एकमात्र समस्या, विश्व की व्याख्या करना है। इस विस्तृत और विभिन्न विश्व को किसी प्रकार बुद्धिगम्य बनाना ही योरुपीय दर्शन का उद्देश्य है। यह बात योरुप की अत्यन्त प्राचीन और अति आधुनिक सब दर्शन-पद्धतियों को लागू होती है। हाँ, इस सामान्य तथ्य का एक महत्त्वपूर्ण अपवाद भी है यह अपवाद योरुप का मध्य-युगीय दर्शन है।

यूनान के प्रारंभिक विचारक, थेलीज़, एनेग्ज़ीमेण्डर, एनेग्जीमिनीज, हेराक्लाइटस आदि की खोज का विषय एक ऐसा मूल तत्त्व था, जिससे दृश्यमान जगत की विभिन्न व्यक्तियों (Entities) का उद्गम संभव हो सके। डिमोक्राइटस के समय तक दार्शनिकों को जीव-जगत और सामाजिक जगत की व्याख्या के महत्त्व का भान नही हुआ था, इसलिये वे उसकी ओर से उदासीन से रहे। किन्तु सोफिस्ट शिक्षकों के घोर संशयवाद ने यह आवश्यक बना दिया कि दर्शनशास्त्र मनुष्य और उसके सामाजिक जीवन की भी व्याख्या करे और मनुष्य के नैतिक विश्वासो का बौद्धिक मण्डन प्रस्तुत करे। इस प्रकार सोफिस्ट सन्देहवाद ने नीतिशास्त्र को जन्म दिया। संशयवाद का उत्तर देने की आवश्यकता ने ही ज्ञान-मीमांसा अथवा सम्वित्-शास्त्र को भी जन्म दिया। इस प्रकार आधुनिक दर्शन-सम्मत प्रमुख शाखाओं की नींव पड़ी। दर्शन की ये विभिन्न शाखाएँ विभिन्न अनुभव-क्षेत्रों को व्याख्या का प्रयत्न करती हैं। जबकि तत्त्व-मीमांसा का क्षेत्र समस्त विश्व है, वहाँ नीति-शास्त्र मुख्यतः मानव जीवन को अपना विषय बनाता है, और ज्ञान मीमांसा ज्ञानमात्र की संभावना पर विचार करती है।

दूसरे की बात यह है कि योरुपीय दर्शन में आत्मा और परमात्मा की जिज्ञासा का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। यद्यपि वर्तमान योरुपीय दर्शन के पिता डेकार्ट ने अपने चिन्तन का प्रारंभ आत्मा से किया है—वह आत्मा की स्वयंसिद्धता को लेकर चला है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसके दर्शन में आत्म जिज्ञासा का कोई विशिष्ट स्थान है। यह बात उसके बाद के दार्शनिक विकास से भी सिद्ध है। वास्तव में डेकार्ट के लिये आत्मा की सिद्धि ईश्वर को सिद्ध करने का द्वार या उपकरणमात्र है। अर्डमान द्वारा उद्धृत डेकार्ट के एक पत्र के अनुसरण में यह बतलाया गया है कि जहाँ वह गणित के अध्ययन में प्रतिदिन कई घंटे व्यय करता था, वहाँ दार्शनिक चिन्तन में केवल कुछ घंटे प्रतिवर्ष लगाता था।* यह इस बात का निदर्शन है कि योरुपीय विचारक बाह्य जगत में काफी दिलचस्पी लेते रहे हैं। इसी प्रकार प्रसिद्ध चैतन्यवादी बर्कले के दर्शन में भी आत्म जिज्ञासा का भाव प्रबल नहीं है। डेकार्ट और बर्कले दोनों आत्मचिन्तन में अभिरुचि जगाने में असमर्थ रहे। यूनानी दार्शनिकों, प्लेटो और अरस्तू, में भी आत्मजिज्ञासा प्रधान नहीं है। इन दार्शनिकों की पद्धतियों में ईश्वर की धारणा का भी गौण स्थान है। प्लेटो अपने जातिप्रत्ययवाद के लिये प्रसिद्ध है और अरस्तू अपने चतुष्कारणवाद तथा विकासवाद के लिये। संशयवादी ह्यूम के बाद काण्ट ने घोषित किया कि आत्मा और ईश्वर दर्शन के विषय ही नहीं हैं। साथ ही काण्ट को इस बात की बड़ी चिन्ता थी कि विज्ञान की सम्भावना और दृश्य जगत की व्याख्येयता का मण्डन किया जाय। हीगल ने तो स्पष्ट ही विश्व के विभिन्न अंशों की व्याख्या करने का भगीरथ प्रयत्न किया है। अध्यात्मवादी होते हुए भी हीगल के दर्शन में उपास्य ईश्वर और आत्मा का गौण स्थान है। वस्तुतः हीगल के अनुसार विश्व-ब्रह्माण्ड की सारभूत अमूर्त धारणा समष्टि (System of Categories) है जो भारतीय आत्मतत्त्व से नितान्त भिन्न है।

अति आधुनिक काल में ब्रेडले आत्म तत्त्व को निरर्थक या अतात्त्विक घोषित करता है। यद्यपि ब्रेडले के अनुसार दर्शन का काम तत्त्व पदार्थ को जानना है, फिर भी वह मानता है कि एक पूर्ण दर्शन समष्टि को विश्व विवर्त्तों का विवरण दे सकना चाहिये। हमारे युग की ओर विकासवादी पद्धतियाँ भी विश्व की व्याख्या का प्रयत्न करती हैं।

दूसरी बात यह है कि योरुप में दार्शनिक चिन्तन, चिन्तन के लिये रहा है, वह स्वयं ही अपना ध्येय माना गया है उसका अपने से बाहर कोई लक्ष्य या उद्देश्य नहीं है।

इसके विपरीत भारतीय दर्शन एक उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त हुआ था वह मोक्ष का अन्यतम साधन माना गया। यही नहीं, अनेक दर्शनों के अनुसार दर्शन का प्रधान विषय आत्मा और परमात्मा की जिज्ञासा है। हमारे इस मन्तव्य का स्पष्टीकरण अपेक्षित है।

*—दे० हिस्ट्री आफ फिलॉसफी भाग २, पृ० २४

उपनिषद् मे स्पष्ट कहा गया है कि परा विद्या वह है जिसमे चरमतत्त्व (ब्रह्म या आत्मा) का ज्ञान हो। बाद को मुख्यतः वेदान्त दर्शन ने उपनिषदों के इसी सिद्धान्त को प्रचारित किया। अन्य दर्शनो मे, जिन पर उपनिषदो का प्रभाव कम पड़ा, अवश्य ही विश्व ब्रह्माण्ड की व्याख्या करने का प्रयत्न पाया जाता है। उदाहरण के लिये जैन दर्शन, वैशेषिक दर्शन और साख्य दर्शन मे विश्व के पदार्थों को वर्गीकृत करके उनकी स्वरूप-व्याख्या की कोशिश की गई है। किन्तु दूसरे दर्शनों मे इस प्रकार की व्याख्या महत्त्वपूर्ण नही रह गई है। विशेषतः उत्तरकालीन भक्तिमार्गी दर्शन विश्व को व्याख्या के प्रति नितान्त उदासीन रहे और उनका एकमात्र उद्देश्य आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को स्पष्ट करके ईश्वर-प्राप्ति के उपाय बतलाना रह गया। ध्यान देने योग्य बात यह है कि न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों में भी आत्मज्ञान को विशेष ऊँचा स्थान दिया गया है। यह बात वात्स्यायनभाष्य के निम्न अवतरण से स्पष्ट समर्थित होती है। वे लिखते हैं—"क्योंकि ज्ञेय वस्तुओं को संख्या अनन्त है, इसलिये उन सबका यथार्थ ज्ञान प्राप्त नही किया जा सकता। अतएव उस पदार्थ का सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये जिसका अज्ञान पुनर्जन्म का सक्रिय हेतु बन जाता है।" वात्स्यायन की सम्मति मे सबसे महत्त्वपूर्ण ज्ञान "आत्मा को अमर तथा शरीर, इन्द्रियों आदि नश्वर पदार्थों से भिन्न जानना' है।† शंकराचार्य ने स्पष्ट लिखा है—

न हि सृष्ट्याख्यायिकादिपरिज्ञानात् किंचित्फलमिष्यते। ऐकात्म्यस्वरूपपरिज्ञानात्तु अमृतत्त्वं फलं सर्वोपनिषत्प्रसिद्धम्।* [ऐतरेयभाष्य अध्याय २, उपोद्घात]

उत्तरकालीन भारतीय दर्शन मे विश्व की व्याख्या की उपेक्षा किये जाने का प्रधान कारण अद्वैत वेदान्त के प्रचार और प्रसिद्धि को ही समझना चाहिये। वेदान्त ब्रह्म और आत्मा मे अभेद मानता है, इसलिये उसमे आत्मज्ञान पर बहुत जोर दिया गया। किन्तु भक्तिमार्गी दर्शनों मे ज्ञान का प्रमुख विषय सगुण ईश्वर बन गया। इस प्रकार भारतीय दर्शन धीरे-धीरे विश्व की व्याख्या के प्रति अधिकाधिक उदासीन होता गया। मुक्ति का ध्येय लेकर चलने के कारण भारतीय दर्शन मोक्षधर्म (Religion) के उसी प्रकार समीप रहा, जिस प्रकार कि योरुपीय दर्शन, विशुद्ध ज्ञान या बौद्धिक तृप्ति को ध्येय बनाने के कारण, विज्ञान के।

---

†—दे० न्याय भाष्य (गंगानाथ झा कृत अंग्रेजी अनुवाद), पृ० ४६७—६८

*अर्थात् सृष्टि का क्रम आदि जानने से कोई लाभ नहीं है, ब्रह्मात्मैक्य का ज्ञान ही वास्तविक और उपयोगी ज्ञान है।

जैनियों की दृष्टि में विक्रमादित्य

[ले० श्रीयुत प० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण; प्रोफेसर श्रीयुत दवसहाय त्रिवेद एम ए]

कालकाचार्य कौन था ?

जैनियों की दृष्टि में विक्रम सवत् प्रवर्तक शकारि विक्रमादित्य का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। कालकाचार्य कथानक[1] इस विषय पर पूर्ण प्रकाश डालता है। इस कथानक का रचनाकाल निर्विवाद स्थिर नहीं किया जा सकता। यह कथानक प्रायेण भद्रबाहु रचित कल्पसूत्र के परिशिष्ट म पाया जाता है। यद्यपि विक्रम सवत् ५१० के पूर्व केवल यति ही इसे पढ़ते थ, किन्तु उसके बाद यति और गृहस्थ दोनों सामान्यरूप से पढते हैं। कालकाचार्य सूरि के ही समय पर्युषण का समय भाद्र कृष्ण पचमी के बदले में भाद्र कृष्ण चतुर्थी स्थिर किया गया। हेमचद्राचार्य ने (११४६-१२२९ वि० स०) अपने योगशास्त्रवृत्ति म, जिसे उन्होने अपने आश्रयदाता कुमारपाल (११९९ १२२९ वि० स०) के समय में बनाया था, कालक का उल्लेख किया है। इसलिये सभव है कि कालकसबधी[2] विभिन्न कथानकों को मालवा में धारा नगरी के राजा भोज (१०७५ ११७७ वि० स०) के समय में विशद साहित्यिक रूप दिया गया हो।

खरतरगच्छ की पट्टावली (वीर सवत ९८०) से तीन कालकाचार्य के अस्तित्व और उनके काल का पता चलता है। कालक प्रथम की मृत्यु वीर सवत ३७६ या ९४ वर्ष विक्रमपूर्व, ९१ वर्ष की अवस्था में हुई। सर्व सम्मति स कालक द्वितीय का काल ४५३ वीर सवत् या १७ वर्ष वि० पू० धर्मप्रभसूरि के हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर है। इसी समय सरस्वती का पुन सघ में लेना माना जाता है। तृतीय कालकाचार्य ने पर्युषणकाल पञ्चमी से चतुर्थी में परिवर्तन वीर सवत् ९९३ या ५२३ वि० सवत में किया। कालक प्रथम प्रज्ञापनासूत्र का रचयिता माना जाता है।

गर्दभिल्ल कौन था ?

अभिधान राजेंद्र (भाग ५ पृ० १२८९) के अनुसार राजा गर्दभिल्ल का समय वीर स० ४५३—४६६ (वि० पू० १७ से वि० पू० ४) तक माना जाता है, यद्यपि जिनसेन[3]

---

१ कालकाचार्य कथानक, विलियम नार्मन ब्राउन सपादित, वाशिंगटन, १९३३ खृष्टाब्द।

२ इस महासूरि के विषय में विशेष प्रकाश के लिये कृपया द्विवेदी अभिनदन ग्रथ, काशी नागरी प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित, श्री मुनि कल्याणविजयजी का लेख अभिधालवा पृ० १४ १२० देखें।

३ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी जर्नल, भाग १६, पृ० २३४।

गर्दभिल्ल राजाओ ने ७२ वर्ष राज्य किया, उसके बाद शको का राज्य हुआ। वास्तव मे इस गर्दभिल्लवंशी राजा का नाम दरपण (दर्पण) था। जैन परपरा के अनुसार इस दर्पण राजा का समय ४५३-४६६ वीर संवत् है और कालक द्वितीय का समय वीर संवत् ४५३ है। अत. दोनों का काल ठीक बैठता है।

शकों का पूर्वस्थान

प्रोफेसर, डाक्टर स्टेनकोनो ने अपने ग्रंथ[1] मे इस विषय पर पूर्ण प्रकाश डाला है। उनके अनुसार शकों का प्राचीन स्थान पामीर देश मे हिंदुकुश से उत्तर, बलख और सागडियाना से पूर्व, कास्पियन सागर तक फैला हुआ था तथा बाद मे वे सिस्तान (शकस्थान) मे भी पाये गये हैं। पारसी ग्रंथो से भी इसकी पुष्टि होती हैं तथा चीनी आधार भी हमें इसी निर्णय पर पहुँचाते हैं। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी मे वे सिध देश मे बस गये। ई० पू० ८८ मे मिथ्रडेट्स द्वितीय की मृत्यु के बाद सिस्तान के शक पार्थिया से स्वतंत्र हो गये और अपने विजय-मार्ग पर सिध पहुँचे। टालेमी (१६० ई० सन्) भी काठियावार मे शक राज्य का उल्लेख करता हैं। ई० पू० ६० मे शको का राज्य हिंदुकदेश में सिध, काठियावार और मालवा तक फैल गया।

विक्रमादित्य—

कुछ समय के बाद विक्रमादित्य नामक वीर पैदा हुआ। यह गंधर्वसेन का पुत्र था, जो शाप के कारण गदहे का स्वरूप बनाता था। गुजरात के राजा ताम्रलिप्तर्षि की कन्या मदनरेखा से इसका विवाह हुआ। मदनरेखा की मा ने गर्दभावरण को जला दिया, जिससे गंधर्वसेन की मृत्यु हो गयी। गर्भिणी मदनरेखा ने विक्रम को पैदा किया तथा एक दासी से भर्तृहरि पैदा हुए। सभवत. इस गर्दभिल्लवश का राजचिह्न गदहा था, इसी कारण इस वश के राजाओ का गदहे से संबंध जोड़ा जाता है। अन्य स्थान पर विक्रम को गर्दभिल्ल का ही पुत्र बतलाया गया है। कुछ काल के बाद उस प्रसिद्ध वीर ने सारे शकवंश[2] का नाश किया और सारे मालवा पर अपना अधिकार कर लिया। इसने बहुतो को युद्ध मे हराया और अपने सुकार्य से अक्षय पुण्य प्राप्त किया। राज्य मे धन के प्राचुर्य से इसने प्रजा को ऋणमुक्त कर दिया और अपने नाम का संवत्[3] भी चलाया। भविष्यपुराण के अनुसार भी इस महान् वीर विक्रम ने अपने नाम का सवत् चलाया।

---

१ कारपस इंसक्रिप्सनं इनडिकेरम्, खरोष्ट्री लेख, भाग २, १९२९, आक्सफोर्ड प्रेस।

२ कालांतरेण केण्वाइ उप्पादिट्ठा सगाण तं वंसम्।
जावो मालवराया नामेणं विक्कमाइच्चो ॥६९॥ पृष्ठ ४३।

३ नियवो संवच्छरो जेण (६८)। पृष्ठ ४३।

उपर्युक्त विचार से प्रकट होता है कि गर्दभिल्ल (दर्पण) की मृत्यु के बाद ही विक्रम का जन्म हुआ। अतः, हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि ई० पू० ५७ में विक्रम का जन्म शकराज्य स्थापित होने के ३ या ४ वर्ष बाद हुआ। छोटी उम्र में इसे देश से शत्रुओं के निकालने का भार उठाना पड़ा। १८ वर्ष की अवस्था (ई० पू० ३९) में इसने शकों को मार भगाया और गद्दी पर बैठा जैसा कि काश्मीर की संशोधित राजतरंगिणी[1] से प्रकट होता है। अतः, यह मानना पड़ेगा कि यह विक्रम संवत् विक्रमादित्य के राज्याभिषेक काल से नहीं, बल्कि उसके जन्मकाल से है। काश्मीर में हिरण्य के अपुत्र स्वर्गासीन होने पर बड़ी अशान्ति फैल गयी। विक्रमादित्य ने वहां शान्ति स्थापित किया और वहां का भी राजा बन बैठा। इसने पुनः कालिदास (मातृगुप्त) को वहां का राजा बनाकर भेजा। किन्तु ४ वर्ष ९ मास ही राज्य करने के बाद अपने संरक्षक की मृत्यु का समाचार सुनकर मातृगुप्त ने शोक में सन्यास धारण कर लिया। इसकी मृत्यु १११ वर्ष की अवस्था में ९३ वर्ष राज्य करने के बाद ५४ ई० सन् में शकों के षड्यन्त्र से पैठनक के समुद्रपाल योगी के हाथ से हुई। बाद में यह समुद्रपाल योगी शालिवाहन का दरबारी हुआ। उसकी मृत्यु से प्रजा बहुत दुःखी हुई।[2]

संवत् किसने चलाया?

श्री राखालदास बनर्जी के अनुसार इस संवत का प्रवर्तक नहपान तथा फ्लीट के अनुसार इसका श्रेय कनिष्क को है। सर जान मार्शल और रैप्सन के अनुसार[3] विक्रम संवत् का प्रवर्तक अजेस (Azes) है। किन्तु, स्टेनकोनो के विचार में इसका श्रेय उज्जयिनी के विक्रमादित्य को और हरितकृष्ण देव तथा काशीप्रसाद जायसवाल[4] के मत में गौतमीपुत्र शातकर्णि को है।[5]

शकारि—

संभवतः विक्रमादित्य उसका नाम था तथा शकारि उसकी उपाधि थी। शकारि शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है। शकानाम् अरि और शकाः अरयो यस्य। इसके

---

१ (क) विज्ञान, प्रयाग १९४४ अप्रैल।

(ख) The Revised Chronology of Kashmir Kings Journal of Indian History Vol XVIII P 58

२ स्वर्गे गते विक्रमार्के भद्रबाहौ च योगिनि।
प्रजाः स्वच्छन्दचारिण्यो बभूवुः पापमोहिताः ॥३॥
श्री भट्टारक इन्द्रनन्दि [लगभग ११ वी शताब्दी] प्रणीत 'नीतिसार'।

३ जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटी १९१४, पृ० ४०३।

४ जर्नल बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग १६, पृ० ६१।

५ इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश के लिए 'किशोर' विक्रमांक, भाग ९ किरण १ देखें।

संबंध मे दोनो व्युत्पत्ति ठीक जॅचती है: क्योंकि इसने शकों का सत्यानाश किया तथा उन्हें मार भगाया और अन्त मे शको के साथ लड़ते-लड़ते उन्ही के षड्यंत्र से वीरगति को प्राप्त हुआ। अतः, लोगों ने उसके प्रति अपना आदर भाव दिखाने के लिये उसके नाम का संवत् चलाया जिसे पहले लोग कृत संवत्, बाद मे मालवगणना तथा कालांतर मे विक्रम संवत् कहने लगे।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन साहित्य मे विक्रमादित्य का एक ठोस स्थान है और इस साहित्य के आधार पर हमे विक्रमादित्य को ई० पूर्व प्रथम शताब्दी मे रखने मे विशेष सहायता मिलती है।

---

१ यातेषु चतुर्षु कृतेषु सौम्येष्वसितचोत्तरपदेषु इह वत्सरेषु
=३४३ खृष्टाब्द [गुप्तशिलालेख पृ० ७५]
कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेषु अष्टाविंशेषु।=३७१ खृष्टाब्द [वही २५३]
श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसञ्ज्ञिते।
एकषष्ठ्यधिके प्राप्ते समाशतचतुष्ठये॥=४०४ खृष्टाब्द [वही ८७, १५८]
मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानां ऋतौ सेव्यघनस्वने॥=४३६ खृष्टाब्द [वही ६५-६६]
विक्रमाख्यकाल धौलपुर के एक शिलालेख मे संवत् ८९८=८४१ खृ० सन् [इण्डियन ऐंटिक्वेअरी भाग २० पृ० ४०६]
तथा श्रीएकलिंगजी के शिलालेख में श्रीविक्रमनृप काल १०२८ का उल्लेख है।=९७१ खृ० सन्
(जर्नल बाम्बे रायल एशियाटिक सोसाइटी, भाग २२, पृ० १६६)

समीक्षा

भारतीय दर्शन—लेखक प्रो० बलदेव उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य, प्रकाशक बाबू कृष्णदास गुप्त, ठठेरी बाजार, काशी, पृष्ठ संख्या ६०३, मूल्य ३॥) ।

जैसा कि श्री प० गोपीनाथ कविराज ने प्राक्कथन में लिखा है, इस ग्रन्थ में लेखक ने 'भारतीय तत्त्व ज्ञान का एक साङ्गोपाङ्ग विवरण प्रस्तुत किया है।' प्रारम्भ में लगभग पचास पृष्ठ का एक उपोद्घात है जिसमें 'दर्शन' तथा 'भारतीय दर्शन' पर कुछ विचार हैं। यही पुस्तक का पहला परिच्छेद है। इसके बाद तेरह परिच्छेदों में श्रौत-दर्शन, गीता दर्शन, चार्वाक-दर्शन आदि से लेकर अद्वैत-वेदान्त, वैष्णव तन्त्र, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि के मतों का विवरण है। पन्द्रहवाँ परिच्छेद शैव शाक्त तन्त्र का प्रतिपादन करता है। अन्तिम परिच्छेद में भारतीय दर्शन का उपसंहार है जिसमें दर्शनों के समन्वय तथा भारतीय दर्शन के भविष्य पर विचार व्यक्त किए गए हैं।

प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय का विवरण तीन शीर्षकों के अन्तर्गत दिया गया है, अर्थात् साहित्य, सिद्धान्त और समीक्षा। साहित्य के अन्तर्गत लेखक ने विभिन्न आचार्यों के जीवन पर सरस टिप्पणियाँ दी हैं। इनसे पुस्तक की रोचकता अवश्य बढ़ जाती है, पर अनावश्यक विस्तार भी हो जाता है। विशेषत हिन्दू दार्शनिकों के सम्बन्ध में लेखक ने प्रशंसात्मक वाक्यों का स्वच्छन्द प्रयोग किया है जैसे 'सुबन्धु ने अपनी वासवदत्ता में 'न्यायस्थितिमिव उद्योतकरस्वरूपाम्' लिखकर न्याय जगत में उद्योतकर की विमलकीर्ति की सूचना दी है, तथा दिङ्नागीय आक्रमणों से क्षीणप्रभ न्याय विद्या की (क ?) विमल प्रकाश को सर्वत्र विस्तार कर उद्योतकर ने अपना नाम सार्थक कर दिखाया' पृ० (२३८—३९)। न्याय-दर्शन के प्रसिद्ध आचार्यों का वर्णन लगभग ८ पृष्ठ में है, इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त के आचार्यों पर सात पृष्ठ लिखे गये हैं। यदि इन वर्णनों के बदले विभिन्न आचार्यों के मौलिक मन्तव्यों एवं पारस्परिक मतभेदों का उल्लेख रहता, तो पाठकों का अधिक लाभ होता।

सिद्धान्तों का निरूपण प्राय मूल ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। लेखक का मूल संस्कृत-साहित्य से अच्छा परिचय मालूम पड़ता है। उपनिषदों की अपेक्षा वेदों का और बौद्ध-दर्शन की अपेक्षा जैन-दर्शन का विवरण अधिक विस्तृत और सुन्दर है। विशेषत बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों के साथ लेखक ने न्याय नहीं किया है। भारतीय दार्शनिकों में नागार्जुन का स्थान बहुत ऊँचा है किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में उनकी तर्क पद्धति का परिचय कराने का बहुत ही अपर्याप्त प्रयत्न किया गया है। लेखक ने न्याय, वैशेषिक आदि हिन्दू दर्शनों पर अलग अध्याय दिये हैं जिनसे उन दर्शनों की बहुतसी विशेषताओं का समावेश हो गया

है। अद्वैत-वेदान्त के अध्याय में गौडपाद कारिका का परिचय कुछ अधिक संक्षिप्त है। लेखक ने अद्वैत-वेदान्त का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है, किन्तु यदि शंकर-परवर्त्ती-आचार्यों के मत पर कुछ अधिक लिखा जाता, तो अच्छा होता। लेखक महोदय रामानुज-दर्शन के महत्त्व को हृदयंगम करने में नितान्त असफल हुये हैं और उसके यौक्तिक आधार को स्पष्ट नहीं कर सके हैं। निम्बार्क, मध्व, वल्लभ आदि का दर्शन भी बहुत संक्षेप में दिया गया है। विशेषतः मध्व और उनके अनुयायियों द्वारा की गई अद्वैत की समालोचना को अधिक स्थान दिया जा सकता था। पंचरात्र, शैव, शाक्त आदि मतों के साधनात्मक पहलू को विस्तार से दिखाया गया है, किन्तु उनका दार्शनिक विवरण पर्याप्त नहीं है।

पुस्तक का सब से कमजोर हिस्सा उसका समीक्षात्मक अंश है। लेखक ने तर्क-पूर्ण आलोचना के बदले प्रशंसात्मक या विपरीत वाक्य ही अधिक दिये हैं। उदाहरण के लिये न्याय की आलोचना करते हुए लेखक का कथन है कि 'सच्चा दर्शन वही हो सकता है जिसमें एक नित्य पदार्थ की सत्ता मानकर समस्त पदार्थों का सम्बन्ध उसी से प्रदर्शित किया जाय तथा सद्वस्तु के एकत्व पर जोर दिया जाय' (पृ० २७४)। ऐसी आलोचना की उपयोगिता संदिग्ध है। इसी प्रकार अद्वैत-वेदान्त की समीक्षा में कहा गया है कि 'इसके अनुशीलन से आचार्य शंकर की अध्यात्म-विषयक अलौकिक विद्वत्ता तथा तर्क-विषयक असाधारण निपुणता का पर्याप्त परिचय मिलता है।' तथापि हमें यह कह देना चाहिये कि कुल मिलाकर लेखक विभिन्न दर्शनों के प्रति सहानुभूति रख सका है।

हिन्दी में दर्शन-ग्रन्थों की बड़ी कमी है। अभी तक विभिन्न भारतीय दर्शनों के प्रामाणिक और विस्तृत विवरण हिन्दी में उपलब्ध नहीं हैं। हमारे आलोच्य ग्रन्थ का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। अतएव कतिपय कमियों के रहते हुए भी वह हिन्दी-प्रेमियों द्वारा संग्रहणीय है।

—देवराज, [एम० ए०, डी० फिल०]

अर्द्धकथा—लेखकः पण्डित बनारसीदास जैन, सम्पादक डाक्टर माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९४३, पृ० १५+५०+६=७१, मूल्य : १)।

यह अर्द्धकथा हिन्दी साहित्य की सर्व प्रथम आत्मकथा है जो संवत् १६९८ अगहन मास शुक्ल ५ सोमवार को पण्डित बनारसीदास काशीवासी द्वारा लिखी गयी थी। इसमें उल्लिखित घटना-तिथियाँ गणना से ठीक बैठती हैं जैसा कि परिशिष्ट में दिखाया गया है। यह पुस्तक मध्यकालीन उत्तर भारत की सामाजिक अवस्था तथा धनी और निर्धन प्रजा के सुख-दुःख का परिचय दिलाती है। विशेषकर हमें हिन्दू प्रजा की सच्ची दशा जानने के लिए ऐसी ही पुस्तकों का आश्रय लेना पड़ेगा तथा संभव है कि हमें मुगलकालीन भारतीय

इतिहास म अनेक सशोधन भी करना पड़े। इनमें आँखों देखी बातों का उल्लेख है। इससे इसकी महत्ता और भी बढ़ जाती है।

कविता की दृष्टि से भी इसका स्थान बहुत उच्च है। इसमें साहित्यिक परम्परा स मुक्त, प्रयास रहित घटनाओं का सजीव वर्णन मनोहर है। इसकी भाषा चलती फिरती है। आशा है, इतिहास प्रेमी विद्वान् तथा हिन्दी के साहित्य धुरन्धर इसे अपनावेंगे। हम सम्पादक महोदय का इस दुर्लभ महान् ग्रन्थ को जनता की दृष्टि में लाने का कष्ट स्वीकार करने के लिये धन्यवाद द्वारा अभिनन्दन करते हैं। आशा है आप अन्य भी अर्द्धकथाओं की खोज जारी रखेंगे। —न्वसहाय त्रिवेदी [एम० ए०]

धर्म का आदि प्रवर्तक (इतिहास की एक नवीन खोज)—लेखक स्वामी कर्मानन्द, प्रकाशक मन्त्री, श्री चम्पावती जैन पुस्तकमाला, अम्बाला छावनी, जनवरी १९४० म प्रकाशित, मूल्य आठ आने, छपाई सफाई साधारण पृष्ठ सख्या २०२।

यह धार्मिक अनुसंधान की नवीन पुस्तक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वामीजी ने अनेक प्राचीन ग्रन्थों का अवलोकन किया है। भगवान् ऋषभदेव की चर्चा प्राय आप सभी वेदों म पाते हैं। इस सिद्ध करने के लिये आपने स्वतन्त्र प्रतिभा से काम लिया है। शिव अग्नि, ब्रह्मा, यम, ऋषभ आदि सभी शब्द आपके सिद्धान्त मे पर्यायवाची हैं (पृष्ठ ४२ ४४ ४७)। वेदों म सर्वत्र इनकी स्तुतिया हैं, आपके विचार से वे सब ऋषभदेवजी की स्तुतिया हुइ। तात्पर्य यह कि अनेक खींचातानी की सृष्टि करके आपने आरम्भ के दो तीन प्रकरण लिखे हैं। लेख परम्परा में विषय प्रतिपादन का प्रवाह नहीं है बीच बीच में 'धर्माधर्म' को फटकार बताने के लिये भी कुछ पक्तियाँ आ गई हैं। 'यमयमी सूक्त' द्वारा लेखक को यही सिद्ध करना था कि यम और भी ऋषभदेवजी अभिन्न व्यक्ति थे। जैन मान्यता के अनुसार प्राचीन काल में मनुष्य यमज ही उत्पन्न होते थे और वे स्वभावत पतिपत्नी होते थे। विवाह-व्यवस्था पहले-पहल ऋषभदेवजी ने ही चलाई। साम्य इस प्रकार दिखलाया गया है कि यमयमी भी भाइ बहन थे, फिर पति पत्नी हुए इत्यादि। इसी साम्य पर यम और ऋषभदेव अभिन्न बताये गये और इसीलिये यम के सभी पर्यायवाची शब्द ऋषभ के पर्यायवाची हो गये। हा, तो इसी बात को सिद्ध करने के लिये 'यमयमी सूक्त' की कथा मात्र न देकर प० चमूपति के यमयमी सूक्त सम्बन्धी लेख की बेतरह धज्जी उडायी गइ है जो प्रकृत म अनुपयुक्त है। हाँ, इस प्रकरण का शीर्षक 'यमयमी सूक्त सम्बन्धी मेरी जानकारी' कर सकना था।

५३ पृष्ठ से आगे अनेक जैनेतर पुराणों के उद्धरण देकर ऋषभदेवजी को अत्यन्त प्राचीन सिद्ध किया गया है। ऋषभदेवजी अत्यन्त प्राचीन से भी प्राचीन हों, इससे हमारा (भारतीय आर्यों का) गौरव है। किन्तु स्वामीजी का एक आलोचक की तरह पुराणों के निर्माणकाल

पर भी ध्यान जाना चाहिये था। ५६ पृष्ठ के बाद ऋषभदेवजी की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये शिलालेख आदि प्रमाण एकत्र किये गये हैं। उनका संकलन सुन्दरता से हुआ है। ८९ पृष्ठ से १०७ पृष्ठ तक योग की प्राचीनता, योग के तत्त्व और योग का आचार धर्म आदि बड़े सुन्दर ढंग से लिखे हैं।

१०९ पृष्ठ से १३४ तक एक कहानीकार की तरह ऋषभदेवजी का आकर्षक जीवन चरित्र स्वामीजी ने अच्छा लिखा है। इसके बाद कई पृष्ठों में वेदान्त और सांख्य का मत-प्रतिपादन करके जैन-सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है। इसके बाद भी अनेक गम्भीर विषयों पर आपने विचार किया है। लेख से आपकी बहुज्ञता सिद्ध होती है पर जैन-जनता को प्रसन्न करने का उत्कट भाव छिपा नहीं रह पाता।

ग्रन्थ बुरा नहीं है, बड़े परिश्रम से लिखा गया है। अस्तु, दूसरे ढंग से भी वैदिक या जैन-धर्म का समन्वय स्थापित किया जाता तो अच्छा होता। इत्यलम्।

पावन-प्रवाह—लेखक: श्री० पं० चैनसुखदासजी, न्यायतीर्थ; अनुवादक : श्री० पं० मिलापचन्द जी, न्यायतीर्थ; प्रकाशक : श्रीप्रकाश शास्त्री, मन्त्री—सद्बोध ग्रन्थमाला, जयपुर; छपाई-सफाई सुन्दर, मूल्य ।≈)।

यह संस्कृत-पद्यमय आध्यात्मिक ग्रन्थ है। साथ ही हिन्दी अनुवाद भी है। इसमें निम्न-लिखित चौदह प्रकरण हैं—अनासक्ति, विवेकज्योतिः, उपासनातत्त्वम्, स्वानुभव, दोषान्वेषणम्, लोकैषणा, मृत्युचिन्ता, कर्मविवेकः, ज्ञानलिप्सा, निन्दा-प्रशंसा, भिक्षा, स्वदेवता, कर्त्तव्येक्षणम् और आलस्यशत्रु। सम्पूर्ण ग्रन्थ में २४० श्लोक अधिकतर अनुष्टुप और उपजाति छन्दों में लिखे गये हैं। शान्तरस के उपयुक्त ही प्रसाद गुण का गुम्फन है। उपर्युक्त शीर्षकों से ही ग्रन्थ के विषय अवगत हो जाते हैं। ग्रन्थ देखने से ग्रन्थकार की प्रतिभा और अध्यात्मतत्त्वज्ञता का परिचय मिलता है। यों तो शास्त्रों में प्रतिपादित विषयों का ही संकलन पण्डितजी ने किया है, पर 'स्वानुभवः' प्रकरण में तथा और एकआध स्थलों में नवीन विषय भी लिखे हैं। हाँ, 'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः' इस न्याय के अनुसार प्रूफ आदि की कुछ अशुद्धियाँ रह गयी हैं। 'तत्त्व' और 'महत्त्व' शब्दों में सर्वत्र एक ही 'तकार' मुझे मिला। तत् और महत् शब्दों से 'त्व' प्रत्यय जोड़कर दोनों शब्द बनते हैं। उपासनातत्त्व के दूसरे श्लोक के द्वितीय चरण में छन्दोभङ्ग दोष है, और भी कई स्थलों में अनुस्वार तथा विसर्ग छूट गये हैं, एवं कई व्यर्थ भी दिये गये हैं। तथापि ग्रन्थ बढ़िया और संग्रहणीय है। पूजा-काल में अथवा एकान्त में मनन करने से आत्मोन्नति में यह अवश्य ही सहायक हो सकता है। हिन्दी अनुवाद की भी भाषा सुन्दर और आशुगम्य है। संस्कृत न जानने वाले भी इससे पूरा लाभ उठा सकते हैं। हाँ दुनिया, मुह, महत्ता आदि के स्थान पर दुनियां, मुंह, महानता आदि व्याकरण-विरुद्ध शब्द भी व्यवहृत हुए हैं।

शान्तश्रृंगारविलास।—प्रणेता प० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण, प्रकाशक श्री निर्मलकुमार जैन, आरा; मूल्य सदुपयोग।

शास्त्रीजी की यह सुन्दर कृति पठनीय है। सच पूछिये तो इन २५ श्लोकों को यह मुक्ता हार है। किसी भी कान्तानुरक्त पुरुष को श्रीजिनेन्द्र के चरणों में ये कविताएँ बरबस पहुंचाने की क्षमता रखती हैं। इसी उद्देश्य से कवि ने रम्भाशुक सम्वाद आदि के अनुकरण पर एक श्रृंगारी दूसरे शान्तपुरुष के परस्पर सवाद के रूप में इस ग्रन्थरत्न का प्रणयन किया है। अन्त में श्रृंगारी पराजित होकर शान्त के मत का समर्थन करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि छपाई, सफाई, विषय, आकार आदि सभी प्रकार से पुस्तक उपादेय है। हाँ, चतुर्थ श्लोक के तृतीय चरण में एक अशुद्धि रह गयी है।

—कमलाकान्त उपाध्याय [व्याकरण साहित्य वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ]

श्रीवर्द्धमानपुराण।—रचयिता कविरत्न श्री नवलशाह, संशोधक और सम्पादक प० पन्नालाल जैन, 'वसंत' साहित्याचार्य, पृष्ठ संख्या ४२६, साइज डबल क्राउन १६, छपाई और सफाई सुन्दर, प्रकाशक मूलचन्द किसनदास कापड़िया, मालिक दिगंबर जैन पुस्तकालय सूरत, वीर सं० २४६८, मूल्य ३), पक्की जिल्द ३॥) ।

उपर्युक्त पुस्तक श्रीनवलशाहजी की पद्यात्मक रचना है। रचना विभिन्न छन्दों में की गयी है। इनमें गाथा और शार्दूलविक्रीडित छन्द कदाचित् रचयिता की निज की रचनाएँ नहीं हैं। इस पुस्तक को एक धार्मिक पुराण कहना उपयुक्त होगा। इसमें जैन धर्म के अंतिम तीर्थंकर भगवान वर्धमान (महावीर) का संक्षिप्त जीवन परिचय तो है ही, साथ ही प्राचीन जैन गाथाओं तथा शास्त्रीय बातों का पूर्ण उल्लेख है। इस काव्य के साथ धर्मशास्त्र भी कहना अनुचित न होगा। कवि ने 'भगवान का जन्माभिषेक' तथा वैराग्य वर्णन में अपने काव्य कौशल का अच्छा परिचय दिया है। हाँ, कहीं कहीं भाषा में उलझन और शिथिलता भी आ गयी है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पद्यों में मात्रा की गड़बड़ी बेहद खटकती है। संशोधक महोदय को या तो पुस्तक का समुचित संशोधन करना चाहता था, या मूल रूप में ही रखना चाहता था। पता नहीं चलता कि कौन-सा रूप संशोधित है और कौन-सा रूप असली है। संशोधक को इसके लिए कोई सांकेतिक चिन्ह देना चाहता था। ऐसा न होने से पाठकों के सम्मुख एक बड़ी उलझन उपस्थित हो गयी है। आशा है, दूसरे संस्करण में संशोधक महोदय इस ओर अवश्य ध्यान देंगे। फिर भी पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। पाठकों को इसे अवश्य पढ़ना चाहिए।

—बनारसी प्रसाद भोजपुरी, [साहित्यरत्न]

जैन-सिद्धान्त-भवन का वार्षिक विवरण

[१९-६-४२—७-६-४३]

वीर संवत् २४६८ ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी से वीर संवत् २४६९ ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी तक भवन के सामान्य दर्शक-रजिस्टर में ६००० व्यक्तियों ने हस्ताक्षर किये हैं। परन्तु हस्ताक्षर करने की कृपा न करने वाले व्यक्तियों की संख्या भी इससे कम नहीं होगी।

विशिष्ट दर्शकों में से निम्नलिखित महानुभावों के शुभ नाम विशेष उल्लेखनीय हैं: श्रीमान् पं० महेन्द्रकुमार जैन, शास्त्री, न्यायाचार्य, काशी, श्रीमान् सी० एम० मल्लिनाथ, भूतपूर्व सम्पादक 'जैन-गजट', मद्रास, सर मिर्जा एम० इस्माइल, वर्तमान दीवान जयपुर, श्रीमान् पं० परमानन्द जैन, शास्त्री, सरसावा; श्रीमान् पं० बलदेव उपाध्याय, एम. ए., साहित्याचार्य, प्रो० हिन्दू विश्व-विद्यालय काशी; श्रीमान् एस. पी. प्रसाद, प्रो० साइन्स कॉलेज, पटना, श्रीमान् के. पी. सिनहा, प्रो० जी. बी. बी. कालेज, मुजफ्फरपुर। इन विद्वानों ने अपनी बहुमूल्य शुभ-सम्मतियों के द्वारा पूर्ववत् भवन की सुव्यवस्था एवं संग्रह आदि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

पाठक : भवन के सामान्य पाठक वे है, जो भवन में ही बैठकर अभीष्ट ग्रन्थों का अवलोकन करते हैं। क्योंकि सर्वसाधारण जनता को ग्रन्थ घर ले जाने के लिये नहीं मिलते। इसलिये प्रायः स्थानीय पाठकों को नियमानुसार भवन में ही आकर अध्ययन करना पड़ता है। इनके लिये हर प्रकार की सुविधाएँ भी दी जाती हैं। इनके अतिरिक्त अपवादरूप में विशेष नियम से जिन-जिन खास-खास व्यक्तियों को घर ले जाने के लिये ग्रन्थ दिये गये हैं उन ग्रन्थों की संख्या ३२६ है। इन ग्रन्थों से स्थानीय पाठकों के अतिरिक्त श्रीमान् प० महेन्द्रकुमार जैन, शास्त्री, न्यायाचार्य, स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी; श्रीमान् उमाकान्त प्रेमचन्द शाह, बड़ोदा; श्रीमान् प्रो० ए. आर. कृष्णा शास्त्री, महाराज कॉलेज, मैसूरु; श्रीमान् प० परमानन्द जैन, शास्त्री, वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा; श्रीमान् प० कैलाशचन्द्र जैन, शास्त्री, स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी, श्रीमान् गोविन्द पै, मंजेश्वर आदि बाहर के विद्वानों ने भी लाभ उठाया है। हां, स्थानीय जैन कॉलेज ने तो भवन के संग्रह से सबसे अधिक लाभ उठाया है।

संग्रह: पूर्ववत् इस वर्ष भी मुद्रित प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती, कन्नड एवं तमिल आदि भारतीय अन्यान्य भाषाओं के चुने हुये ६० और अंग्रेजी के १० कुल ७० ग्रन्थ भवन में संग्रहीत हुये हैं। अन्यान्य भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं की फाईलों की संख्या भी लगभग इतनी ही है।

भवन को इस वर्ष ग्रन्थ प्रदान करने वालों में स्त्रीसमाज, आरा, आर्किओलाजिकल

मैसूर, श्रीमान् प्रो० हीरालाल जैन, अमरावती, श्रीमान् प० के० भुजबली शास्त्री, आरा, श्रीमान् बा० नानकचन्द जैन, रोहतक, श्रीमान् बा० नेमिचन्द महावीर प्रसाद जैन, पाण्ड्या, कलकत्ता, श्रीमान् बा० केशर प्रसाद जैन, आरा, श्रीमान् प० शिवमूर्ति शास्त्री बेंगलूरु, श्रीमान् ताराचन्द कोदरजी गाधी, फल्टन, आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

इस वर्ष शास्त्रप्रतिलिपि का कार्य एक प्रकार से स्थगित सा रहा। इसके दो कारण है पहला कारण तो कागज का अभाव और दूसरा सस्कृतज्ञ लेखकों की अप्राप्ति। असस्कृतज्ञ लेखकों से शास्त्रों की प्रतिलिपि कराने से विशेष लाभ नहीं होता है। बल्कि ग्रन्थों में अशुद्धियों की मात्रा और बढ़ जाती है। फिर भी 'केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि' एव 'वेदी-प्रतिष्ठा' ये दो ग्रन्थ बाहर से लिखवाकर मगवाये गये अवश्य। हा, इस प्रकरण में सुदूर वर्ती जैनेतर कवि हनुमान् वेंकटराय नेरलाने (मैसूर) का नाम नहीं भुलाया जा सकता, जिन्होंने अपने ही से अपनी बहुमूल्य कृतियों की प्रतिलिपियाँ भवन को सादर, सहर्ष समर्पित करने की महती कृपा की है। कृतियाँ निम्न प्रकार हैं (१) चन्द्रहासाभ्युदय, (२) तिरुनगन्नडदगुरुल्,(३) भावनात्रय, [स्वतन्त्र], (४) पूर्वरामचरित, (५) उत्तररामचरित, (६) मुकुन्दानन्द, (७) कुरुकुलकलह, (८) वासवदत्ताचरित,(९) चारुदत्त, (१०)मध्यमव्यायोग, (११) श्रीकृष्ण दौत्य [परिवर्तित] ये कुल ग्रन्थ कन्नड भाषा में हैं और इनकी प्रतिलिपि स्वय कवि ने अपने हाथ की है।

प्रकाशन भवन के इस विभाग में 'जैन सिद्धान्त भास्कर' तथा 'जैन एण्टीक्वेरी' का प्रकाशन पूर्ववत चालू रहा। इनके अतिरिक्त 'प्रशस्ति-सग्रह' [प्रथम भाग] एव 'वैद्यसार' की प्रतिया पुस्तकाकार में विक्रयार्थ अलग तैयार कराई गईं। हर्ष की बात है कि पूर्ववत् 'भास्कर' उत्तरोत्तर लोकप्रिय होता जा रहा है और बडे बडे जैनेतर विद्वान् भी इसे बडे ही आदर की दृष्टि से देख रहे हैं।

परिवर्तन इस वर्ष निम्नलिखित अनुसन्धान पत्र पत्रिकाएँ 'जैन सिद्धान्त भास्कर' के परिवर्तन में प्राप्त हुई है

(1) The Indian Culture (2) Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute (3) The Journal of the University of Bombay, (4) The Karnatak Historical Review (5) The Adyar Library Bulletin, (6) The Journal of the Annamalai University (7) The Poona Orientalist (8) The Journal of the United Province Historical Society (9) The Quarterly Journal of Mythic Society, (10) The Punjab Oriental Research a Quarterly Journal (11) The Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal (12) The Journal of the Royal Asiatic Society of Bombay, (13) The Fergusson College Magazine, (14) The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, (15) The Journal

the Benares Hindu University, (16) The Andhra University College Magazine and Chronicle, (17) The Journal of the Sri Venkatesvara Oriental institute, (18) The Journal of the Sind Historical Society, (19) The Journal of the Tanjore Sarasvati Mahal Library, (20) The Jaina Gazette (21) The Bombay Theosophical Bulletin.

हिन्दी (२२) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, (२३) भारतीय विद्या, (२४) साहित्य-सन्देश, (२५) अनेकान्त, (२६) सम्मेलन-पत्रिका. (२७) किशोर, (२८) वैद्य, (२९) धर्मदूत, (३०) जैन महिलादर्श, (३१) दिगम्बर जैन, (३२) बालकेसरी, (३३) जैन प्रचारक, (३४) परवार बन्धु (३५) जैन बोधक, (३६) खण्डेलवाल जैन हितेच्छु (३७) वीर (३८) भारतीय समाचार, (३९) जैन संदेश, (४०) जैन मित्र, (४१) जैन गजट। गुजराती (४२) सुघोष। संस्कृत : (४३) मैसूरुमहाराजसंस्कृतमहापाठशालापत्रिका, (४४) सूर्योदय। कन्नड : (४५) साहित्य परिषत्पत्रिका, (४६) प्रबुद्ध कर्णाटक, (४७) साहित्य समिति पत्रिके, (४८) जयकर्नाटक, (४९) अध्यात्म प्रकाश, (५०) शरण साहित्य, (५१) विवेकाभ्युदय, (५२) सुदर्शन। तेलगु . (५३) आन्ध्र-साहित्य-परिषत्पत्रिका।

इनके अतिरिक्त भवन में The Indian Historical Quarterly, विशाल भारत, सरस्वती, राष्ट्रवाणी, विश्वमित्र ये भी मूल्य देकर मंगाये गये है।

समालोचनार्थ प्राप्त ग्रंथ : इस वर्ष 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' में समालोचनार्थ अन्यान्य भाषा के निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हुये है :

(१) षट्खण्डागम [पुस्तक ५], (२) पंचम-कर्मग्रन्थ, (३) कन्नड नाडिन कथेगलु, (४) चित्रसेनपद्मावतीचरित्र, (५) महावीरवाणी, (६) वर्धमानपुराण, (७) धर्म का आदि प्रवर्त्तक, (८) सत्यार्थ-निर्णय, (९) पावन-प्रवाह, (१०) बनारसी-नाममाला, (११) जैन भण्डागायन, (१२) पुराण और जैनधर्म (१३) जैन धर्म में दैव और पुरुषार्थ, (१४) तत्त्वार्थ-सूत्र जैनागम समन्वय आदि।

पत्रव्यवहार : भवन एवं भास्कर से सम्बन्ध रखने वाले सैकडों पत्रों के अतिरिक्त इतिहास, साहित्य आदि गम्भीर विषयों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक पत्रों का भी समुचित उत्तर भवन से दिया गया है; जिनसे बाहर के पत्र प्रेषक मान्य विद्वानों को पर्याप्त सन्तोष हुआ है।

साहित्यिक तथा धार्मिक सभाएँ : इस वर्ष भवन में साहित्यमण्डल, साहित्य-परिषत् आदि साहित्यिक संस्थाओं के साधारण अधिवेशनों के अतिरिक्त महावीरजयन्ती आदि धार्मिक सभाएँ भी अधिक समारोह के साथ मनाई गई है। बल्कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग के सभापति तथा विश्व-विद्यालय, प्रयाग के वायस चॉसलर श्रीमान् डा० अमरनाथ झा को साहित्य-परिषत्, आरा की ओर से भवन में ही मानपत्र दिया गया था।

प्रकाशन कार्य में सहायता भारतवर्षीय दि० जैन संघ मथुरा, विश्वविद्यालय, मैसूर, विश्वविद्यालय, मद्रास एवं कर्णाटक-साहित्य-परिषत्, बेंगलूरु आदि संस्थाओं के प्रकाशन कार्य में भी भवन ने यथेष्ट सहायता पहुँचाई है।

सम्मतियाँ भवन एवं इसके प्रकाशन के सम्बन्ध में कतिपय मान्य विद्वानों की शुभ सम्मतियाँ निम्न प्रकार हैं

I paid a hurried visit last night to the Jaina Oriental Library It is well stocked with valuable manuscripts relating to Jaina religion and literature

The building is an excellent one and conviniently is situated The library must be a source of mental enjoyment for those who visit it.

(Sir) Mirza M Ismail, Diwan, Jaipur

"We were delighted to pay a visit to the centre of learnings research

[Professor] S P Prasad Science college, Patna

[Professor] K P Sinha G B B College Muzaffarpur

I was delighted to see the collection of rare and valuable books and manuscripts on almost all important subjects A look at the collections will convince the visitor that important books by prominent authors find place here The books and manscripts are not only well preserved but also well utilised I am glad to learn that scholars living in distant places get loans of books especially manscripts from this library for their study My esteemed friend Pandit Sri Bhujbali Sastri has put his heart and Soul for the development of this library to what it is as present from what it was about 20 years ago when I first visited the place I prav that this library may grow from more to more and be of help to many a scholar and student."

C. S Mallinath Ex-editor Jaina Gazette, Madras

"आज श्रुतदेवता के इस परम पुनीत पूजास्थान को देखकर अन्तरात्मा सन्तोष से उद्वेल हो उठी। इसका संग्रह अपने ढंग का अनोखा है। फिर उसकी व्यवस्था तो श्री पं० भुजबलीजी शास्त्री की सुरुचि तथा साहित्य प्रेम के कारण अतुलकोटि में जा पहुँची है। स्व० बाबू देवकुमारजी की जिनवाणी भक्ति के इस मूर्त-रूप का संपोषण, संरक्षण, संवर्द्धन उनके सुयोग्य पुत्र बाबू निर्मलकुमारजी और भी उत्साह से करते रहें, यही भावना है। जैनस्मृति के इतिहास निर्माण में इस भवन का विशेष भाग रहा है। करीब अनन्य ग्रन्थों का इसमें संग्रह है। साथ ही साथ कुछ और भी पुरातत्त्व विषयक

सामग्री के संग्रह का लघु प्रयत्न प्रारम्भ किया गया है। आशा है, कि जैन-संस्कृति-संरक्षण का यह केन्द्र उत्तरोत्तर विकास करता रहेगा।"

महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य, स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी।

"सौभाग्यवश मुझे 'सरस्वतीभवन' देखने का सुअवसर मिला। यह जैन समाज के समस्त भवनों से अपनी खास विशेषता रखता है। भवन की सुव्यवस्था देख हृदय पुलकित हो उठता है। श्रुतदेवता के मन्दिर का मूर्तमानरूप देखकर हृदय गद्गद् हो जाता है। भवन के अध्यक्ष श्रीयुत पं० के० भुजबलीजी शास्त्री भवन की व्यवस्था बड़ी भारी लगन एवं उत्साह के साथ सम्पन्न कर रहे हैं। स्व० बा० देवकुमारजी की जिनवाणी भक्ति का यह जीता जागता रूप देखकर बड़ी ही प्रसन्नता होती है। बाबू निर्मलकुमारजी का साहित्यप्रेम इसे और भी बढ़ाने का प्रयत्न करेगा, ऐसी आशा है। भवन में जो ऐतिहासिक सामग्री का संग्रह है और किया जा रहा है उससे जनता को यथेष्ट लाभ उठाना चाहिये।...... .....आशा है, यह भवन उत्तरोत्तर वृद्धि करता हुआ जैन साहित्य के संरक्षण का एक ही केन्द्र रहेगा।"

परमानन्द जैन, शास्त्री, वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा।

"...... ....पुस्तकों का रमणीय संग्रह, चित्रों की सजावट, प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों का रुचिर संग्रह—इन सब वस्तुओं को देखकर चित्त पुलकित हो उठा। आरा के इस पुस्तकालय में जैन दर्शन तथा साहित्य के अध्ययन के लिये जितना सुयोग है, उतना अन्यत्र मिलना नितान्त कठिन है। इस कार्य के लिये इसके सञ्चालक देवकुमार जैन तथा व्यवस्थापक शास्त्रीजी हमारी विपुल प्रशंसा के पात्र हैं। मेरा पूरा विश्वास है कि भगवान् महावीर के अमृत उपदेशों के प्रचार से संसार का विशेष मंगल होगा। इस महान् उद्देश्य की पूर्ति में इस संस्था का नाम भी चिरस्थायी रहेगा।"

बलदेव उपाध्याय एम. ए., साहित्याचार्य,
प्रो० हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी।

The Jaina Antiquary in English and the Jaina Sidhanta Bhaskar in Hindi are issued once in six months by the Jain Sidhanta Bhavana, Arrah, Bihar The journals contain valuable articles regarding Jainism in its Literary, Historical and Philosophical aspects, and extremely useful to scholars We wish the Journals a long life of research in the unexplored regions of Jaina thought, literature and History."

Journal of the Telugu Academy. Cocanada

"The Jaina Sidhanta Bhaskara in Hindi and Sanskrit with which is in corporated the Jaina Antiquary in English is the only research Journal which the Jains should be proud to possess'

Editor. Jain Gazette, Lucknow.

Bhaskara is a half yearly journal, devoted to the study of and research in topics pertaining to the Jain religion, history and philosophy

Editor, The Fergusson College Magazine Poona.

Pray accept my cordial thanks for a copy of The Jain Antiquray which I have found to be a source of information on Jainism I have noticed the article on Prabhāchandra, as particularly interesting

[Prof] Sidheswar Verma
Prince of Wales college Jammu (Kashmir)

"आपके द्वारा प्रेषित 'जैन सिद्धान्त भास्कर' नाम की उच्च कोटि की पत्रिका कार्यालय में पहुँची। हमारी दृष्टि में सचमुच यह पत्रिका जैन सिद्धान्तों का भास्कर ही है।"

चिलुकुरि पापय्य शास्त्री,
आन्ध्र साहित्य परिषद् काकिनाड।

"इस [जैन सिद्धान्त भास्कर] में जैनधर्म, कला, साहित्य, दर्शन, पुरातत्त्व आदि विषयों पर सुन्दर लेख रहते हैं। पुरातत्त्व के विद्यार्थियों के लिये पत्रिका उपादेय है।"

स० धर्मदूत, सारनाथ।

"इस [जैन सिद्धान्त भास्कर] में बराबर ठोस और स्थायी सामग्री रहती है। जैन इतिहास की अच्छी अच्छी और खोजपूर्ण बातों को प्रकाश में लाया जाता है। प्रस्तुत अंक में सभी लेख पढ़ने योग्य हैं।

सा० जैन संदेश, आगरा।

It [Prasasti Sangraha] is indeed a very valuable reference book, pull of information and presented in a neat form and it deserves to be heartily welcomed by all serious students of Indian literature in general and of Jain literature in particular I earnestly request you to continue this work further

Dr A N Upadhye M A D Litt
Rajaram College, Kolhapur

"It [Praśasti Sangraha] is useful compilation very carefully prepared I hope you will continue the work and the other parts will be published ere long For my part I feel that the work will be of immense use

Prof D L Narsinhachar
Maharaja College, Mysore

"……यह 'प्रशस्ति-संग्रह' बहुत ही खोजपूर्ण और उपयोगी प्रकट हुआ है। जो विद्वानो के लिए एवं इतिहास-प्रेमियों के लिए बड़े काम की चीज तो गई है। मन्दिरों और पुस्तकालयों के लिये तो यह संग्रहणीय है ही। …… इस पुस्तक के लिये पं० भुजबलीजी शास्त्री ने जो परिश्रम किया है, प्रशंसनीय है। इसके लिये आप अत्यन्त धन्यवाद के पात्र है। जैन समाज चिरकाल तक आपका ऋणी रहेगा।

सं० 'जैनमित्र' सूरत।

"……प्रस्तुत ग्रन्थ देवकुमार-जैन-ग्रन्थमाला का पञ्चम पुष्प है। जैन ग्रन्थों की प्रशस्तियों में इतिहास की अपूर्व सामग्री भरी पड़ी है। किन्तु उसके संग्रह की ओर अभी तक किसी ने क्रियात्मक ध्यान नहीं दिया था। पं० भुजबलीजी शास्त्री के सहयोग से भवन में संग्रहीत हस्तलिखित ग्रंथों में से ५४ संस्कृत, प्राकृत ग्रन्थों के मंगलाचरण, प्रशस्ति आदि का प्रथम संग्रह प्रकाश में आया है। प्रत्येक ग्रन्थ के प्रशस्ति-संग्रह के अन्त में शास्त्री-जी ने हिन्दी भाषा में उसका विवेचन भी किया है। और इस तरह साधारण पाठकों के लिये भी वह लाभदायक और रोचक बन गया है। इस एक पुस्तक को ही पास में रखने से पाठक ऐसे ५४ शास्त्रों के बारे में बहुत-सी बातें जान सकेंगे, जिनका प्रकाशित होना अभी कठिन है। अतः प्रत्येक शास्त्रप्रेमी को इस पुस्तक की एक प्रति अवश्य मंगानी चाहिये। बड़े-बड़े अजैन विद्वानों ने इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। हम शास्त्रीजी तथा बाबू निर्मलकुमारजी को उनके इस अत्यावश्यक सफल प्रयास के लिये हार्दिक धन्यवाद देते हैं। आशा है, इसी प्रकार भवन में संग्रहीत कुल ग्रन्थों की प्रशस्तियों के संग्रह प्रकाश में आ जायँगे। और उनसे जैन साहित्य और इतिहास का महान् कल्याण होगा।"

पं० कैलाशचन्द्र जैन, शास्त्री
सं० जैन सन्देश'।

"……'जैन-सिद्धान्त भास्कर' में बहुत समय से हस्तलिखित प्राचीन ग्रंथों की प्रशस्तिया छप रही थीं। उनका संग्रह करके यह ग्रन्थ अभी प्रकाशित हुआ है। इसमें न्यायमणिदीपिका, प्रमेयकण्ठिका, जिनयज्ञफलोदय आदि ५४ शास्त्रों की प्रशस्तिया छपी है। जिनमें आदि मंगलाचरण के श्लोक व अन्तिम प्रशस्ति दी गई है। शास्त्र का विषय भी वर्णित है। अतएव यह संग्रह अत्यन्त उपयोगी प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थों के रचयिता ३९ विद्वानों की सूची भी दी गई है। तथा आचार्य श्रीमुनि, आर्यिका आदि के नामों की अनुक्रमणिका (कोश) लगभग ११०० शब्दों का दिया गया है। यह संग्रह इतिहास प्रेमियों के लिये बड़े काम का सिद्ध होगा। प्रत्येक जैन-मन्दिर के भण्डारो में व पुस्त-कालयों में मंगाकर रखना चाहिये। वस्तु संग्रहणीय है। शास्त्रीजी का खोजपूर्ण सफल परिश्रम प्रशंसनीय है।"

ब्र० पं० चन्दाबाई जैन,
सं० 'जैन महिलादर्श'।

भुजबलिचरितम्

श्रीमोहलक्ष्मीमुखपद्मसूर्यं नाभेयपुत्रं वरदोर्बलीशम् ।
नत्वादिकाम भरतानुजात तस्य प्रशस्ता सुकथा प्रवक्ष्ये ॥१॥
आनन्त्याकाशमध्ये त्रिजगदनिलत सन्ति (?) तन्मध्यलोके
सन्ति द्वीपाब्धिवृन्दा सहवलयिता ह्यग्दाद्या (?) वृतोऽसौ ।
जम्बूद्वीपोऽस्ति तस्मिन् कनकगिरिवरो भाति तद्दक्षिणस्या
माशायामस्ति भास्वद्भरतनर्पतो मग्यगोत्तारशैल ॥२॥
तच्छैलामलपुष्पलिट्पद इव प्रोद्भासमान सदा
गगासिंधुनदीविभागविलसत्पट्खण्डभूमण्डलम् ।
आर्या (?) खण्ड इति त्रिषष्ठिसुशलाकापुरुषोत्पत्तिर्नै
मित्तो भात्युपलाञ्छणाब्ध्युपनदीभि पञ्चखण्डात्मक ॥३॥
तत्खण्डपश्च उदग्प्रदेशा,
द्राविडनामदेशो भातीव सौभाग्यरमाधिवास ॥४॥
तद्देशलक्ष्मीमुखमण्डलेव भाति प्रशस्ता मधुरा पुरी सा ।
ता रत्नतीहार (?) ललामतोऽमी श्रीराजमल्लक्षितिपाग्रगण्य ॥५॥
श्रीदेशीयगणाब्धिपूर्णमृगभृच्छ्री नन्दिनाति
श्रीपादाम्बुजयुग्ममत्तमधुप सम्यक्त्वरत्नाकर ।
श्रीमज्जैनमताब्धिवर्धनसुधासूतिर्महीमण्डले ·
पौलोमीश्वरवैभवो विजयते श्रीराजमल्लो विभु ॥६॥
आहारादिचतुर्विधोत्तममहादानानुरक्त सदा
सर्वज्ञोदितदिव्यशास्त्रसुकलावाराशिपारगत ।
भास्वज्जैननिवासजैनवरनिम्बोद्धारवीरव्रतो
रेजे सद्गुणभूषणो बुधनुत श्रीराजमल्लो नृप ॥७॥
अद्रौ रत्नगणायते सुरसरिन्मध्येऽरुणाम्नायते
दिङ्नागव्रजमस्तके सुचिरसिन्दूरायते सम्प्रति ।
दिक्कान्ताकुचमण्डले घसृणसत्पुञ्जायते शौर्यव-
त्तत्तेजो वरराजमल्लनृपतेरन्यानशोकायते ॥८॥

स्नात्वा देवापगायां सुरुचिरविलसच्चन्द्रिकाशुभ्रवस्त्रम्
धृत्वा मुक्ताभरणममलिनं भूषयित्वा त्रिशुद्ध्या ।
स्वर्धेनुक्षीरधारादरकुजकुसुमैः पुष्पवृष्टिं करोति
तत्कीर्त्तिप्रेयसी .. . ...श्रीराजमल्लक्षितीन्द्रः ॥६॥
त्वन्मूर्त्तिः सुरपादपस्तव भुजस्तज्जातरपर्शात्मकः
तव करांगुल्यः स्वर्धेनुस्तनाः (?)...........
त्वत्पदावलिनखांकुरसुरमस्तविद्धज्ञिसिद्धोरस (?)
त्वद्वाक्यं तु सुदेवदानसमयो हे राजमल्लप्रभो ॥१०॥
तस्यामात्यशिखामणिस्सकलवित् सम्यक्त्वचूडामणिः
भव्याम्भोजवियन्मणिस्सुजनवन्दिव्रातचिन्तामणिः ।
ब्रह्मक्षत्रियवंशशुक्तिसुमणिः कीर्त्योघमुक्तामणिः
पादन्यासमहीशमस्तकमणिश्चामुण्डभूपाग्रणीः ॥११॥
प्रभातकाले नृपराजमल्लः स्नात्वा च मौनादिकसत्क्रियाञ्च ।
कृत्वा जिनेन्द्रं परया च भक्त्या स्तुत्वा महालंकृतिमान् बभूव ॥१२॥
मणिप्रभामण्डितसिंहपीठेऽप्यास्थानमध्यप्रविभासमाने ।
अतिष्ठदुद्यद्दिवसाधिपोसाविनप्रपूर्वाचलशेखरस्थः ॥१३॥
अमात्यचूडामणिना नृपोऽसौ चामुण्डनाम्ना सह सत्सभायाम् ।
वाचस्पतिव्यक्तसुरेन्द्रशोभां चकार सर्वावसराख्यकायाम् ॥१४॥
कश्चिद्वणिग्वंशललामभूतः प्रविश्य राज्ञश्च सभान्तरालम् ।
महीतलालिंगितविग्रहस्सन् प्रणम्य चोवाच कथां सुवार्ताम् ॥१५॥
स्यादुत्तरस्यां दिशि पौदनाख्या पुरी विभाति त्रिदशाधिपस्य ।
पुरप्रभास्वत्प्रतिबिम्बितादर्शमेव जैनक्षितिमण्डलेऽस्मिन् ॥१६॥
तत्पत्तने श्रीभरतेश्वरेणादिब्रह्मपुत्रेण कुलंकरेण ।
राजर्षिणा चादिमचक्रिणा सुनिर्मापितं बाहुबलीन्द्रबिम्बम् ॥१७॥
पञ्चसप्ततिविहीनषट्शतोद्धचापसमविग्रहोच्छ्रितः ।
चारुबाहुबलिविग्रहश्च कर्केतनोपलविराजितो भुवि ॥१८॥
पश्यतीव हसतीव सुवाक्यं जल्पतीव सदकृत्रिमबिम्बम् ।
तिष्ठतीव वरपौदनपुर्यां भाति बाहुबलिसुप्रतिमासौ ॥१९॥

श्रीगुम्मटाभिनवनामविराजितोऽसौ
श्रीवाहुबल्युरुतरप्रतिभासमान ।
श्रीचारुमत्प्रतिकृतिर्नमक (?) द्वयस्य
मूर्तीयमार्हत्यिताद्रिरिगोरु (?) भाति ॥२०॥
अकृतिमार्हत्प्रतिमापि कायोत्सर्गेण भातीव सुरामधेनु ।
चिन्तामणि कल्पद्रुम पुमानाकृति विधत्ते जिनविम्बमेतत् ॥२१॥
श्रीपादचारुलसनानुमदूरयुग्म
नेत्र विविम्बावलिनापि सुरस्तवहम् (?) ।
कण्ठास्यकर्णलसदोष्ठसुनासिका हि
मूभालकुन्तलमहो जिनपुगवस्य ॥२२॥
पदादिदोरन्तिमचेष्टिता सद्वल्ली महावाहुवलेर्जिनस्य ।
आसर्पणार्थं वरमोचलन्त्या त्यक्ता वरश्रीव सदा विभाति ॥२३॥
इत्थ जिनेन्द्रप्रतिमाप्रभाव श्रुत्वातिहृष्टो नृपराचमल्ल ।
चामुण्डरायोऽपि तथातिहृष्ट सम्यक्त्वरत्नाकरपूर्णचन्द्र ॥२४॥
तदा नमस्कृत्य तमेव भूप समान्तरालात्स्वगृह प्रविश्य ।
तद्वृत्तक मातुरवोचदेतत्ं द्रुत्वा तदानन्दपरा वभूव ॥२५॥
सुतेन सार्धं वरकालिकाम्वा गत्वा जिनाधीशगृह विशुद्धया ।
स्तुत्वा जिनेन्द्र स्वगुरोर्गुरुश्च श्रीसिहनन्द्यार्यमुनिं प्रणम्य ॥२६॥
श्रीभूभृद्रावनम्रप्रनगुरुमला सत्पदगीलजाल
श्रीमद्देशीगणाम्भोरुहविकसनसामर्थ्यमार्तण्डविम्व ।
प्रोद्यद्वादीभसिंह सकलगुणनिधि सर्वशास्त्रस्य कर्ता
रेजे सिद्धान्तवेदी सुजनुतचरण सिहनन्द्यार्यवर्य ॥२७॥
पश्चात्मानितसेनपण्डितमनि देशीगणाग्रेसरम्
स्वस्यापत्यसुवुद्धिवार्धिरजनि श्रीनन्दिसघाधिपम् ।
श्रीमद्भासुरसिहनन्दिमुनिमाप्य भोनरोलसकम् ।
चानम्याघ्रत्न् (?) सुपोदनपुरश्रीगोम्मटेशेश्वरम् ॥२८॥
तच्छ्रीवाहुवलीशचारुतरसद्विम्वस्य सन्दर्शनम्
नो कृत्वा न पिवाम्यह पय इति चीरव्रत धारये ।

तद्योगीन्द्रपदाम्बुजातनिकटे चामुण्डभूपाग्रणीः
तत्क्षीरव्रतमप्यसौ गुणमणिः सोऽधारयद्भक्तितः ॥२९॥
पुनर्नमस्कृत्य मुनीन्द्रपादं श्रीराजमल्लं प्रतिगम्य भूपम् ।
मनोगतार्थं स बभाण तस्य प्रयाणयत्नञ्च चकार रागात् ॥३०॥
श्रीसैद्धान्तिकचक्रिणा मुनिवरश्रीनेमिचन्द्रेण त-
च्छिष्याग्रेसरयोगिभिर्बुधजनैः सार्धं जनन्या सह ।
हस्तिव्रातरथाश्वपत्तिनिकरैः साकं प्रतस्थे शुचि-
लग्ने वाग्वरवावृते दिशि पुरा चाखण्डपृथ्वीश्वरः ॥३१॥
मार्गे मार्गे यत्र यत्र प्रवासं चक्रे राजा तत्र तत्रार्हदीयम् ।
कृत्वा कृत्वा श्रीगृहं पूजयित्वा सेनाव्यूहं धन्यवन्तं चकार ॥३२॥
उत्तराभिगमनं विरचय्यागत्य कंचिदपि योजनमात्रम् ।
विंध्यशैलमपि सोऽपि ददर्श क्ष्मारमासुकरकन्दुकसाम्यम् ॥३३॥
तच्छैलसानुनि तटे ललिताख्यचारुपद्माकरस्तदचलप्रभुदर्पणाभः ।
आभात्यसौ तदधरे [खलु] पार्श्वदेशे सेनाग्रजश्च निवसेत्(?)क्षितिपाग्रगण्यः॥३४॥
ह्रस्वाद्रिस्तदवनीभृत्कुवेरकाष्ठायां तद्धरशिखरेऽस्ति जैनवासः ।
इत्येवं नृपतिशिखामणेरवोचत्कश्चित्किङ्कर उदधेर्गभीरकस्य ॥३५॥
श्रुत्वा तदा जिनगृहं प्रतिगम्य भक्त्या स्तुत्वा जिनेन्द्रवरबिम्बमघातवज्रम् ।
श्रीनेमिचन्द्रमुनिना सह भूमिपालो निद्रां चकार निशि तद्गृहमण्डपेऽसौ ॥३६॥
कूष्माण्डी तन्मुनीशस्य च तदवनीपालकस्याम्बिकायाः
स्वप्ने चातुर्थयामेऽभणदतिकठिनो मार्ग इत्यग्रे (?) गन्तुम् ।
शैलेऽस्मिन्नावणेशेन विकृतभुजबल्युद्घबिम्बं प्रसन्नैः
त्वद्भक्तिप्रेरितैः काञ्चनमयविशिखैर्जायते ह्यद्य भूप ॥३७॥
दृष्ट्वा शुभस्वप्नमपि क्षितीशः सुप्रातरुत्थाय जिनं प्रणम्य ।
गुरुञ्च नत्वा जननीं प्रवंद्य स्वप्नं ददर्शेति बभाण दिव्यम् ॥३८॥
तद्वत्सुस्वप्नमावाभ्यां दृष्टं तत्फलकारणम् ।
यत्नं कुरु नृपालेति बभाण मुनिपुंगवः ॥३९॥
स्नात्वालंकारयित्वा मुनिपतिनिकटे चोपवासञ्च कृत्वा
दाक्षिण्याशाननः सन् समपदयुगलः कार्मुकात् स्वर्णबाणान् ।

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. IX. JUNE, 1943 No I

Edited by

Prof Hiralal Jain M A LL.B
Prof A N Upadhye M A., D Litt
Babu Kamata Prasad Jain M R A S
Pt K Bhujabali Shastri, Vidyabhushana

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH BIHAR INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs 3 Foreign 4s 8d Single Copy Rs 1 8

CONTENTS.

JAINA LITERATURE IN TAMIL

By

Prof A Chakravarti M A, I. E S Published by The Jaina Siddhānta Bhavan, Arrah (Bihar) Rs 2

The remarkable contributions of Jaina authors to the different languages of India are discernible in the history of Indian Literature through the ages and Tamil is no exception The Sangham Literature abounds with Jaina authorship In a cursory survey of Tamil Literature, (in which the author gives a summary of each of the main Tamil Kavyas), Prof Chakravarti brings out the prevalence of Jainism in ancient Tamil Nadu, and traces the manners and customs of the Tamils from these books The author traces the vegetarianism of the Tamil Brahmin and the Tamil Vellalas to the over-riding influence of the doctrine of Ahimsā of Jainism as preached 2,000 years ago in the Tamil classics Since practically the whole of the ancient Sangham Literature is covered in this survey of Jaina authors, it will serve as a useful introduction for non-Tamilians to the history of ancient Tamil literature There is an useful index of the authors and the works referred to in the book. The author's arguments for fixing some of the authors as Tiruvalluvar are interesting The historian, the student of comparative religion and the student of Tamil literature will all alike benefit by a study of this book.

Indian Express

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"
[अकलंकदेव]

Vol IX No 1 | ARRAH (INDIA) | June, 1943

The Jaina Theory of Anekanta-Vada

By
K C Bhattacharya

The *Jaina* theory of *anekānta vāda* or the manifoldness of truth is a form of realism which not only asserts a plurality of determinate truths but also takes each truth to be an indetermination of alternative truths It is interesting as suggesting a criticism of present day realism and indicating a direction in which its logic might be developed It is proposed in the present paper to discuss the conception of a plurality of determinate truths to which ordinary realism appears to be committed and to show the necessity of an indeterministic extension such as is presented by the *Jaina* theory

The truth that we actually know is a plurality of truths and philosophy rightly or wrongly, sets itself the problem of finding the *one* truth which either denies or in some sense comprises the plurality Whatever differences there have been as to the actual conception of the truth the rejection of the faith that there is one truth has generally been taken to argue a scepticism about the many truths that we claim to know Sometimes however an ultimate plurality of truths has itself been taken as the one truth and the apparent contradiction has been sought to be avoided by taking it to mean only that there is *one cognition* of the plurality Elsewhere the cognition of a

fact is a further fact but here the addition of cognition as a fact to plurality as a fact yields us nothing but the plurality. The realistic or objectivistic equivalent of the unity of a cognitive act is the bare togetherness of the facts known; and the togetherness of cognition as a fact with the fact cognised is the exemplar of this relation

The difficulty is about the objectivity of this bare togetherness When two objects other than knowing are known together, they are ordinarily taken to be in some kind of whole, specific relation or unity This cannot be said of object and its cognition as together. Objects also may however be barely together; the relation of a whole to its elements, of a relation to its terms or of a unity to its factors is nothing more specific than togetherness. This then is the fundamental category of realism and whole relation or unity would be understood as particular cases of it We propose to show on the lines of the *Jaina* theory that this category is itself manifold, being only a name for fundamentally different aspects of truth which cannot be subsumed under a universal and do not make a unity in any sense Togetherness, as ordinarily understood by the realist, means distinction of determinate positive truths The *Jaina* category might be formulated as distinction from distinction which as will be shown has a definite range of alternative values, only one of which answers to the distinction or togetherness of the modern realist.

Prima facie there is a difference between the relation of a composite fact with its components and the relation of the components themselves We may overlook for the present the different forms of the composite—whole, relation or unity—which imply varying relations to the components and provisionally admit composite truth as a single entity. Now there is no difference between the togetherness of any one component with the rest and that of any other with the rest. the components in their various combinations are together in exactly the same sense Taking however the composite on the one hand with the components on the other, we find that the two sides can be only thought alternately. while one side is thought by itself, the other can be thought only in reference to it If the components are taken to be given, the composite can be understood as only *their*

plurality and if the composite is given as one, the components are known as only *its* analysis Each side can be given by itself as objective and so it is not a case of mere correlative *thoughts* Neither side need be thought in reference to the other but while one is thought as distinct by itself the other has to be thought as only together with or distinct from it We have in fact a correlation here between 'distinct in itself and distinct from the other between given position and what is sometimes called the negation of negation

Is the necessity of thinking something *as other than its other* merely subjective? It would appear to be objective in the same sense and on the same grounds as the togetherness or bare distinction of positives admitted by the realist Realism objectifies the subjective because it is *known* and is not simply transcendental The que tion may be asked, is the distinction of subject and object, of knowing and the known, both taken to be facts — enjoyed' and 'contemplated respectively, to use Professor Alexander s phrase — a fact of the former or of the latter category, subjective or objective? Now just as knowing is known the absolute difference of the two forms of knowing—enjoying and contemplating—is also known and if the unity of the knowing act be taken to correspond to objective togetherness, this absolute difference must also be taken to have its objective counterpart Togetherness or bare distinction is the form of objectivity in general The counterpart then of the difference of subjective knowing or enjoying from objective knowing or contemplating would be distinction from objectivity i e from distinction Thus both distinction and distinction from distinction should be taken by the realist as objection These two howeverare not ordinarily distinguished both are called by the same name — togetherness

If however as shown these two forms of togetherness are fundamentally different what is their further relation? Now distinction from distinction has sometimes been taken as a determinate relation as identity or some unique relation like characterising' or adjectivity which also for our present purpose we may call a peculiar form of identity The problem is accordingly about the relation of identity and distinction in the objective We may consider two forms of identity as presented by the Hegelian and the *Nyaya* sytems respec.

that is not distinct from any thing at all. Confining ourselves to positives, we have synthetic identity of positives in this system in the form of *Samavāya* or the relation of inherence Without going into the subtle technicalities of the *Nyaya* in this connection, we may indicate that *Samavāya* is understood by it as the relation of attribute to its substratum and of a whole to it parts It is a relation of distinct objects and is regarded as what is presupposed by every other relation of existents It is not a mere formal relation of identity: the distinction of the terms of this relation is taken to be real and to be in no sense superseded by it. Hence it is not *called* identity in this theory but it is pointed out that one term of the relation—attribute or whole—exists inseparably from the other—substratum or part, the inseparability being *eternal* although no term may be infinite or permanent. This eternal inseparability may accordingly be regarded as a form of concrete identity

Now this identity is taken as knowable by perception, unlike the implicational identity of Hegel which is supposed to be known only by necessary thought As a percept it is a distinct among distincts, not as in the Hegelian theory comprehensive of the distincts Ultimately there are objects like the simple atoms distinct in themselves and not inhering in anything beyond them Other objects like attributes and wholes exist as distinct but inseparable from their substrata Finally the relation *Samavāya* or this concrete identity is also a distinct object Thus priority is assigned, as has been pointed out, in this system to distinction.

The relation of *Samavāya* implies three grades of distincts—objects that must be in some substratum, the substrata, and the relation itself. The question may be asked if relation is a distinct being in the sense in which the objects of the other two grades are distinct. These objects are distinct as the terms of the relation: objects which do not inhere in anything are still determinate as having attributes and wholes inhering in them Not that the knowledge of a substance presupposes the knowledge of what inheres in it: it is known as distinct prior to the analysis But in point of being, every object except relation must either have something inhering in it or

itself inhere in something else or be in both these situations Relation is not itself related to anything beyond, for then there would be a *regressus ad infinitum* It is a distinct existent only by self identity or *sva samavāya*

Self identity however is not a relation of distincts at all Granting — what is not admitted by all — that *Samavāya* is known by perception, this self identity or *Sva samavāya* is not a perceptible fact but is only an artificial thought content Self related means unrelated in the objective *Samavāya* is certainly *known* along with its terms but as a fact, it is only unrelated and cannot be even said to be definitely differrent from its terms Can it then be determinate in itself ? It may indeed be conceded that the determinateness of a related term does not in point of being depend on its relations the relation of a term *presupposes* an intrinsic determination in the term But that need not mean that the term is itself unrelated and has relation only added to it In point of being the relation of *Samavāya* is eternal and so the related term is never unrelated though as a *term* it is distinguishable from the relation Relation then as an unrelated term is not even determinate and it is a contradiction to speak of it as self related or unrelated and yet as determinate

In the two conceptions of identity-in difference above considered, the subordination of either relation to the other appears to lead to a contradiction Shall we then take the relations to be merely coordinate ? We may take one type of such a view as presented in a work on logic by W E Johnson (Vol I chapter xii) In the last two views a term A can be both identical with and other than B The present view denies it and keeps to the commonsense principle that distincts cannot be also non distinct Yet identity as a relation is admitted a term X viewed in connexion with the distincts A and B would be said to be identical as against the distinction of A and B Identity of X here practically means its self identity it is not merely the thing X but a relation in reference to the distinction Identity of X thus implies a distinction outside X viz between A and B, not any distinction or plurality within itself

The so called mutual implication of the identity and distinction of two terms M and N means according to this view their identity *in one*

respect a and their distinction in another *b* the two relations are presented together, each being known independently It amounts to saying that M and N are in the two relations, the *same* two terms only in a factitious sense They are two pairs of terms— *Ma Na*, and *Mb Nb*—presented together, and the identity of *Ma, Na* means that they are only different symbols of P.

But what does symbol of P mean, it may be asked. Can we simply say that *Ma, Na* are P as in connexion with i.e. as distinct from and together with *Mb, Nb* respectively ? Apparently P *has* to be thought in two positions, The difference of symbols is not accidentally together with the identity P : it cannot be got rid of and cannot in the last resort be taken to be *outside* the identity, like the difference of *Mb, Nb.* In other words, a new relation—other than the mere coordinateness of distincts—has to be admitted between P and its ultimate symbols or thought-positions So far as the identity of P can be distinguished from this relation, it is only P-*ness* and not P ; and the relation itself is but the particularity of P. The identity of a determinate thing then disappears and gives place to a dualism of the abstractions—thinghood and particularity.

Ordinary realism starts with the determinate thing and would resist this analysis as artificial. But the alternative would appear to be to take the determinate thing as simply given, as implying no identity and to reject self-identity as only a meaningless phrase. What precisely is meant by 'simply given' ? It can only mean 'independent of all particularising or symbolising thought.' It is to assume that the distinct exists apart from distinguishing If this is justified simply by the circumstance that the distinction between the subjective and the objective is itself a known object, we come back to the old difficulty about distinction within the objective and distinction from the objective. Distinction from the objective, taken as itself objective, implies that knowing is known as distinct from the known i e. *as unknown.* If this is not a contradiction, knowing can only be understood as the *indefinite* that is known (i e. is definite or objective) *as* the indefinite. The realistic equivalent of the relation of object and subject then is the relation of the definite and indefinite.

The objective indefinite has been admitted by some logicians with a realistic tendency e g by L. T Hobhouse in his *Theory of Knowledge* The content of simple apprehension which to him is the standard fact is at once definite and indefinite What is apprehended is a definite with an indefinite background The indefinite is apprehended is so far definite but it is definite *as* indefinite not as superseding the indefinite Yet to Hobhouse there is knowledge only so far as the content is defined by abstraction The knowledge of the indefinite as such is not regarded as necessitating any modification of the forms of definite knowledge The difference of the definite and the indefinite is not understood as other than the difference between *two definites* There is the *other obscure relation approximating to* adjectivity or identity indicated by the phrase 'definite indefinite But this relation if not denied is not considered by him at all The *Jaina* recognises both these relations explicitly and obtains from their contrast certain other forms of truth simpler and more complex

The obscure relation in the content definite indefinite requires elucidation If the indefinite is definite *as such* is this definiteness an objective character? To the realist thought only discovers but does not constitute the object Bare position corresponding to the simple positing act of thinking must then be objective The indefinite is thought as *indefinite* and by the same logic the indefiniteness is also objective The 'definite indefinite is thus a fact but the two elements of it are incompatible in thought. The factual equivalent of this incompatibility would be disconnexion or *no relation* the two elements cannot be said to be related objectively even in the way of distinction Yet as the elements have to be thought together their togetherness is to be admitted as objective in the same abstract sense Here then we have *togetherness of unrelated or undifferenced elements.* We can not deny a plurality nor can we affirm a definite distinction the relation is a magical alternation This would be the *Jaina* equivalent of the relation of identity We may call it non difference distinction from distinction or indeterminate distinction

If the given indefinite is definite *as* indefinite the given definite is definite *as* definite The given definite thus turns out to be a

manifold, in contrast with the given indefinite If the adjective 'definite' in 'definite indefinite' be objective, it is also objective in 'definite definite' and distinguishable from the substantive 'definite'. We use the terms adjective and substantive only in a provisional way. The adjectival definite is objective thought-position and the substantive definite as contrasted with it is objective given-ness, or existence in general. As they are both distinct, their relation is definite distinction or differenced togetherness Thus we have two modes of togetherness—differenced and undifferenced The *Jaina* calls them *kramarpaṇa and saharpaṇa* respectively—consecutive presentation and co-presentation, as they might be translated To him the indeterminism or manifoldness of truth (*anekanta*) presents itself primarily in these two forms of difference and non-difference

The two definites in the phrase 'definite definite' mean thought-position and given-ness. They answer precisely to the elements of the determinate existent—viz particularity and thinghood—which we obtained from the coordinateness of identity and distinction In order to avoid the apparently artificial analysis, the realist takes the determinate existent as merely given. It is indeed given but so is the indefinite also given and the contrast of the two brings out the circumstance that the determinate existent is manifold—the very analysis that was sought to be avoided The determinate existent then implies the distinct elements and is at the same time distinct from them

Such is the logical predicament that is presented everywhere in the *Jaina* theory. It may be generalised as a principle : the distinction from distinction is other than mere distinction and yet asserts the distinction. It is just the realistic equivalent of the simple statement that the subject is distinct from the object and *knows* this distinction, or as it may be put more explicitly, that the knowing of knowing is the knowing of knowing *as referring to the object* As we have already suggested, the different basal categories of objectivity with which the different forms of realism are bound up answer to the different aspects of the act of knowing If knowing is a unity, the known is a plurality the objective category being distinction or togetherness.

If knowing is itself a duality of 'contemplating and 'enjoying the known or the contemplated is a duality of distinction and distinction from distinction If finally knowledge is *of* the object, *refers to* the known the known must present an equivalent of this *of relation* or *reference*

What is this *of relation*? It is the relation of knowing and its content the knowing or assertive function which is sometimes identified with the function of meaning It is a relation, not of two contents but of content and no content of being and no being—something that is neither the one nor the other and is intelligible only by the concept of *freedom that can neither be said to be nor not to be* This freedom, stripped of its subjective associations, is but the category of indetermination Distinction and identity infact—or as we call them differenced togetherness and undifferenced togetherness (of particularity and thinghood)—are themselves related in the way of indetermination or alternation particularity and thinghood are in *each* relation without being in the other relation *at the same time* Identity is distinct from distinction and yet implies it i e is in alternation with it. There are thus three basal categories—viz distinction, distinction from distinction as other than distinction, and the indetermination of the two Ordinary realism is based on the first category, there are forms of realism that admit some kind of definite identity as distinct from distinction and finally *Jaina* realism admits both in the form of indetermination, the identity being interpreted as indefinite

The *Jaina* develops this category of indetermination into seven alternative modes of truth The indetermination is ultimately of the definite and indefinite Now this yields two relations—definite distinction between them and indefinite distinction But indefinite distinction between them is to our knowledge nothing other than the indefinite as a term of it we do not know more of the indefinite than that it is indefinite The most complex mode of truth then that we know is the definite distinction between the definite and the indefinite or as we put it more explicitly, between the definite-definite and the definite indefinite Every other aspect of truth as we shall see presently is implied by it as distinct from and alternative with it

Now the definiteness of the given indefinite, as has been shown already, though objective, sits lightly on the indefinite and is a detachable adjective The conception of detachable definiteness being thus obtained, the given definite turns out to be a manifold, to be a togetherness or distinction of two definites—the detachable definite on the one hand or particular position which has no reference to existence or non-existence and givenness or existence in general on the other which as contrasted with the particular i e as characterless may be called its negation. No other negation is admitted by the *Jaina* to be objective · what is called absolute negation—one form of which is the contradictory—i e. the negation of what it is not possible to affirm at all is to be rejected as not objective, as no truth at all. The definite-definite or the determinate existent may then be said both to be and not to be particularity or pure position is its being and existence in general is its negation There is no contradiction if we bear in mind that the being of pure position is not given existence but only what must be thought, what is objective in this sense The same logic is sometimes expressed by saying that a determinate existent A *is* in one respect and *is not* in another respect. This does not simply mean that A is A and is not B . it means that existent A, as existence universal, is distinct from its particularity.

The determinate existent is, in the sense explained, being and negation as distinguishably together, together by what the *Jaina* calls *kramarpana* The given indefinite—the 'unspeakable' or *avaktavya* as it has been called - as distinct from the definite existent, presents something other than this 'consecutive togetherness' it implies *saharpana* or co-presentation which amounts to non-distinction or indeterminate distinction of being and negation in the above sense. It is objective as given : it cannot be said to be *not* a particular position nor to be *non*-existent At the same time it is not the definite distinction of position and existence it represents a category by itself The commonsense principle implied in its recognition is that what is given cannot be rejected simply because it is not expressible by a single positive concept A truth has to be admitted if it cannot be got rid of, even if it is not understood

So far then we have obtained four modes of truth—being,

negation their distinction and their non distinction—all implied by the distinction between the definite given and the indefinite given Now this distinction is itself a mode of truth and as the definite given is taken to be being and negation or particularity and existence together the indefinite may be considered as together with or distinct from each of these elements taken singly It may be taken to *be* a particular i e. to be together with position and it may be taken to be many indistinguishable negations to be the universal—existence—as itself a confusion of the negations of many particulars as not A not B not C indefinitely together Thus we have altogether seven modes of truth—*bhangas* as they have been called—viz. particular position or being its negation or the universal—existence position and negation as distinguishably together or the determinate existent, these as indistinguishably together or the indefinite, this indefinite as itself a being or particular position, as many negations together and finally as distinct from the determinate existent If there be an eighth mode it would be non-distinction of the definite and indefinite which however is but the indefinite, nothing more specific than the fourth mode

The value of these modes of truth for logic cannot be fully discussed within the limits of this paper We may conclude by pointing out that these modes of truth are not merely *many* truths but *alternative* truths The last mode may be regarded as implying the other modes but is not therefore in any sense a comprising unity What is implied by a mode is a different mode The implying relation in objective terms is but indetermination The implying mode and the implied mode are at once distinct and indefinitely non-distinct Truth as an indetermination or alternation of truths is but manifold possibility Each mode of truth as alternative with the others is a *possible* though it has to be taken as objective

There is the conception of indeterministic will to which there are many possibles any of which can be really chosen by it. Here we have already the notion of manifold possibility as objective to the will The logic of this notion has not been sufficiently investigated though the relations of objective possibles cannot be adequately

expressed by the categories of ordinary logic. The *Jaina* theory elaborates a logic of indermination—not in reference to the will—but in referenceto knowing, though it is a pragmatist theory in some sense. As a realist, the *Jaina* holds that truth is not constituted by willing though he admits that the knowledge of truth has a necessary reference to willing, His theory of indeterministic truth is not a form of scepticism It represents, not doubt, but *toleration* of many modes of truth The faith in one truth or even in a plurality of truths, each simply given as determinate, would be rejected by it as a species of intolerance. What is presented and cannot be got rid of has to be accepted as truth even though it is not definitely thinkable or is thinkable in *alternative* definite modes

---

The Chronology of the Commentary of Sadanandagani on the Siddhānta-Candrikā of Rāmāśrama or Rāmacandrāśrama—A D 1743

By

P K Gode, M A

Curator,

Bhandarkar Oriental Research Institute Poona 4

Aufrecht[1] records a few Mss of a commentary on the *Siddhānta Candrikā* of Rāmacandrāśrama by Sadānandagani but records no date of composition of this commentary Dr Belvalkar[2] refers to this commentary in his account of the 'Commentaries on the Sārasvata independently of the Prakriyā' but records no chronology for the work or its author H P Shastri[3] describes a few Mss of Sadānanda Gani s *Subodhinī* but makes no remarks about its date of composition Prof H D Velankar[4] in his *Jinaratnakośa* or Catalogus Catalogorum of Jain Mss refers to *Subodhinī Vṛtti* composed by Sadānanda Gani pupil of Bhaktivijaya of the Kharatara Gaccha but does not mention its chronology The *Jaina Granthāvali* also refers to this author without recording his chronology I propose therefore to record in this paper some information about this author and his Commentary *Subodhinī* on the *Siddhantācandrikā*

---

1 *CC I 718*— सिद्धा न्तचन्द्रिका gr by सदानंद Oudh XVII 22 Comm सुबोधिनी by the same L 2911 Oudh XVIII 56 XVII 22

2 Vide p 102 of *Systems of Sanskrit Grammar* Poona 1915 in Sadānanda who wrote a Com called Subodhini which has been published at Benares

3 Vide pp 151—153 of *Des Cata of Vyākarana Mss* (R A S B) Vol VI (1931) Calcutta—Ms Nos 4456, 4457 4457A Sadānanda appears to be a Jain of the school of Kharatara

4 The *Jinaratnakośa* records the following Mss of this Commentary —
B O p 43 44 *CC I* p 718 III P 145 *DB* 36 (5) *JG* p 308 *K B* 3 (29 60) 5 (12) *Mitra* IX, p 20 *Surat* I 5

Colophon on folio 125—

"श्रीमत्पाठकवर्यभक्तिविनया विख्यातकीर्त्तिप्रभा
राजेन्द्रै. परिपूजिताः सुकृतिनः पुंमात्ववाग्देवता ।
मतारो जगतां पति गुणगणैर्विभ्राजमाना सनत् (?)
संवेगादियुजो जयंतु सततं पट्शास्त्रविद्याविद ॥१॥
तेषां शिष्य' सदानंदस्तदनुग्रहभूषित ।
सिद्धांतचंद्रिकावृत्तिं पूर्वार्द्धेऽचकरीदिमां ॥२॥

इति श्रीसिद्धातचंद्रिकाव्या (रव्या) यां सदानंदकृतौ सुबोधिन्याख्यायां पूर्वार्द्ध समाप्तं शुभं भवतु कल्याणमस्तु श्रीरस्तु ।'

II—*References in the Uttarārddha* (Folios 1 to 117)

This section begins: —"श्रीसरस्वत्यै नमः ॥"

सार्व्वीयं सच्चिदानंदं नामं नाभं जगत्प्रभुं ।
सिद्धांतचंद्रिकाख्यातवृत्तिश्चेक्रियतेतराम् ॥१॥

माघः 8, 27, 73 80. 85, 93
श्रीहर्ष , 8, 32, 59
नैषधे, 21
मनोरमाया, 22—This is possibly a reference to the प्रौढमनोरमा of Bhattoji Diksita (A D. 1560-1620)
अमर', 24, 72, 75, 81
माधवमते, 38
भट्टि , 56

Colophon on folio 64 "इति लकारार्थप्रक्रिया ॥

बुद्धिमांद्यवशात्किंचिद् यदशुद्धमलेखि तत् ।
द्वेषभावं समुत्सृज्य सोधनीयां मनीषिभिः ॥१॥

इति सिद्धांतचंद्रिकाव्याख्यायामाख्यातं कामं समाप्तिमगमत् ॥

॥ श्रीसरस्वत्यै नम ॥ प्रतोष्य जगन्नाथं सदानंदेन संमुदा ।
सिद्धांतचंद्रिकावृत्ति क्रियते कृत्प्रकाशिका ॥१॥

हैम 70, 75, 82, 84, 86, 98, 107
रघुः, 75, 78
हरचंद्रः, 81; 82
रत्नमाला 81
विश्वः, 81, 82, 83 (A D. 1111)
मेदिनी, 82, 83, 85, 86
वररुचिकोशः, 82
शाश्वत', 82
धरणिकोशः, 83, 93

The foregoing analysis of the Mss of *Subodhini* of the Jaina commentator of the *Siddhānta—Candrika* proves the following points about his history and Chronology —

(1) Sadānandagani (=S) Composed this Commentary in A D 1743

(2) S belonged to the *Kharataragaccha*, his guru being *Bhaktivinaya*

(3) S was a very close student of Sanskrit grammar as will be seen from his voluminous commentary *Subodhini* and his acquaintance with the works of previous writers on grammar as also the numerous lexicons quoted by him profusely in his work

(4) S shows in an ample degree the interest of the Jaina writers[1] in sanskrit grammar as late as the middle of the 18th century and maintains the great tradition of scholastic studies established by such early writers on grammar like Sri Hemacandrācārya

I shall feel thankful to our Jaina scholar friends if they bring to light any other works of Sadānandagani known to them either with private persons or public libraries not accessible to me

1 Prof H D Velankar in his *Jinaratnakośa* which is now being published by the Bhandarkar O R Institute Poona refers to three Jaina Commentaries on the *Siddhānta—candrikā* of Ramacandrāśrama —

(1) *Subodhini* by Sadānandagani the subject of my present paper

(2) *Tippaṇa* by Candrakīrti which is different from his Commentary on the *Sārasvataprakriyā* (Candrakīrti flourished about A D *1550*)

(3) Tīkā (anonymous)

On the Latest Progress of

Jaina and Buddhistic Studies*

By

Dr. A N Upadhye

Apart from the field of Middle Indo-Aryan languages, the Jaina and Buddhist authors have contributed their mite to the various branches of Indian learning not only in Sanskrit but also in some of the Dravidian languages Of the two major Kāvyas in Tamil attributed to Buddhist authors, only Manimekhalai has come down to us; and the chances of discovering Kundalakeśī are growing remote Orientalists are studying Buddhist and Jaina texts in their respective lines of study such as lexicography, metrics, grammar, polity, Nyāya, medicine and calculatory sciences, but they are usually confined to Sanskrit, because the material from the Tamil and Kannaḍa works is not easily available for those who do not know these languages

For the treatment of the subject-matter it may look convenient to take up Jaina literature as an unit of study, though the Jaina authors clearly show that their cultivation of literary lines was not isolated from the other streams of Indian literature. Pūjyapāda is fully conversant with the Mahābhāṣya of Patañjali; Akalaṅka studied and refuted the Buddhist logicians that flourished before him, and Haribhadra wrote even a commentary on the Nyāyapraveśa of Dignāga; poets like Ravikīrti and Jinasena show a respectful familiarity with the works of Kālidāsa and Bhāravi, and authors like Siddhicandra and Cāritravardhana wrote commentaries on the works of Bāna and Māgha Thus the study of Jaina literature is quite essential to fully appreciate the growth of the network of Indian literature as a whole.

* This forms a portion of the Address delivered by Prof A N Upadhye, as the President of the Prākrit, Pali, Ardha-māgadhī (Jainism and Buddhism) Section of the Eleventh All-India Oriental Conference, Hyderabad, December, 1941

The Jaina authors were pursuing their literary activities almost side by side, in Prakrit Sanskrit, Apabhramsa Tamil and, Kannaḍa and some authors took pride in styling themselves 'ubhayabhāṣā kavicakravarti' etc., because they could compose poems etc., in two languages It is difficult for one and the same scholar to master all these languages so the time has come now when systematic labours in different fields might be pooled together for settling finally various items in the chronology of Indian literature The Jaina works found in these languages are so much interrelated that texts of identical names and similar contents are found in different languages at different periods I may give only one illustration Jayarāma wrote a Dharmaparīkṣā (DP) in Prākrit based on this we have the Apabhraṁśa DP of Hariṣena written in A D 988 Amitagati wrote his Sanskrit DP in A D 1014 and by about the middle of the 12th century Vṛttavilāsa wrote his DP in Kannada Hariṣena belonged to Chitor, Amitagati is associated with Ujjain or Dhārā and Vṛttavilāsa is a native of Karnāṭaka This interlingual and interprovincial influence underlying the various works is sure to contribute interesting details to our structure of Indian literature The late lamented R Narasimhachar often felt the need of checking the relative chronology of Kannaḍa literature with the help of other Jaina works in Prākrit and Sanskrit. More than once it is the references from Kannaḍa works that have put reliable limits to the dates of some Prākrit and Sanskrit authors But this has not been done to any appreciable extent, with regard to Tamil literature, as far as I know The Tamil scholars have occupied themselves in constructing a relative chronology which requires to be adjusted by a comparative study of corresponding works in Sanskrit and Prākrit There should be no presupposition that every Tamil or Kannaḍa work is later than a similar work in Prākrit or Sanskrit because we know that Keśavavarni's Kannaḍa commentary on the Gommaṭasāra was translated into Sanskrit by Nemicandra A critical and dispassionate comparison of the contents would show in many cases which is the earlier and which is the later work and when some facts are brought to light, hardly any scope is left for mere opinions It is being accepted by some scholars now that Manimekhalai is later than Dignāga If a Tamil work refers to Indra's Grammar sacred to the Jainas we are

reminded of the Jainendra Vyākarana which is more than once understood as Indra's grammar. It is necessary, therefore, to see how far Tolkāppiyam and Nannool are indebted to the Jainendra-Vyākarana It is expected that Tamil scholars would institute a critical comparision of Jīvakacintāmani, Yaśodharakāvya, Nāgakumārakāvya etc, with corresponding works in Sanskrit whose dates are nearly settled Tamil scholars like Shivaraj Pillai are growing suspicious about the ages of early Sangams the traditions about which are described as 'entirely apocryphal and not deserving any serious historical consideration' At any rate a comparative study of Jaina works in Tamil and Sanskrit would help us to adjust rightly the chronology of Tamil literature. I believe, Prof. Chakravarti's essay, Jaina Literature in Tamil (Jaina Siddhānta Bhavana, Arrah, 1941), would attract the attention of many scholars to the contents of important Jaina works in Tamil

The Nyāya branch of early Indian literature has attracted comparatively little attention of the Orientalist. The Jaina Nyāya works are almost untouched, though for centuries together eminent authors have discussed the principles of Jainism in relation to other Indian systems of thought in a highly elaborate style In the beginning it was Pathak and Vidyabhushan who wrote a good deal about the chronology of these texts, but lately so much new material is coming to light that we have to change many of our earlier conclusions Prof. H. R. Kapadia is editing Anekāntajayapatākā with Svopajñavṛtti and Municandra's commentary in the G O. S. (Vol. I, Baroda, 1940) In his excellent edition of Akalanka's three works, Akalanka-granthatrayam (Singhi Jaina Granthamālā No. 12, Ahmedabad 1939), not only a new work of Akalanka has been brought to light but also a good deal of fresh information about Akalanka's age and exposition is put forth by Pt Mahendrakumar in his learned Introduction. Equally important is his edition of Nyāyakumudacandra (Mānikachandra D Jaina Granthamālā, Vols 38-39, Bombay 1938—41). The text is presented with valuable comparative notes which testify to the deep study of the Editor in the wide range of Indian Nyāya literature The two Introductions, one by Pt Kailashchandra and

the other by Pt Mahendrakumar are rich contributions quite valuable for the new wealth of material and fresh outlook Pt. Sukhlalaji of the Benares Hindu University is a rare genious, and his all round mastery of Indian Nyāya literature is remarkable His outlook is fresh, his analysis is searching, and his penetration is deep His comprehension evokes admiration though one differs from him on some points We owe to him and his colleagues two nice editions, Jaina Tarkabhāṣā and Pramāṇamīmāṃsā (Singhi Jaina Series, Ahmedabad 1939) The material that has come out through these volumes would require us to re-estimate many of our views about the medieval Indian logic In representing the Pūrvapakṣa views these Jaina texts show remarkable impartiality as observed by Winternitz that their philosophical discussions are of great value to us in studying Indian philosophy It is necessary that some of these texts should be carefully translated into English Lately the smaller edition of Sanmati Tarka in Gujarāti by Pts Sukhalal and Becharadas has been translated into English by Profs Athavale and Gopani (Bombay 1939)

Some of the Buddhist logical texts were known to us only through their Tibetan translations and references But through the zealous explorations of Tripiṭakācārya Rahula Sankrityayana many Sanskrit texts have once more reached the land of their birth and he has already edited, partly or completely, texts like Parmānavārtika (with its commentaries) Vādanyāya etc. Lately attempts have been made to restore the Sanskrit text of Ālambanaparīkṣā and Vṛtti of Dinnāga from the Tibetan and Chinese versions (Adyar L. B III, pts 2—3) by N Aiyaswami Shastri with whose edition of Bhāvasamkrāntisūtram of Nāgārjuna (Madras 1938) we are already acquainted Trisvabhāvanirdeśa—of Vasubandhu Sanskrit text and Tibetan version, is edited with English translation by Sujitkumar Mukherjee (Viśvabhāratī, 1939) The English translation of Tattvasaṁgraha has been now completed by Dr Ganganath Jha in the G O S (Vols 80-83 Baroda 1937 39) The text and translation of this important work have added to the dignity of G O S which has now assumed the form of a miniature Oriental Library Important problems from this text have been lately studied by A Kunst in his

Problems der Buddhischen Logik in der Darstellung des Tattva-saṁgraha (Krakow 1939).

Due to the religious injunction of Śāstradāna, the studious zeal of the ascetic community and the liberal patronage of rich laymen, we have in India many Jaina Bhaṇḍāras which on account of their old, authentic and valuable literary treasures deserve to be look upon as a part of our national wealth. Mss are such a stuff that they cannot be replaced if they are once lost altogether We know the names of many works from references and citations, but their Mss. are not found anywhere. To the historian af literature Mss. are valuable beyond measure Jaina authors, both in the North and South, did not confine themselves to religious literature alone, but they enriched by their works, both literary and scientific, different departments of Indian learning. As such Jaina Bhandāras are rich treasures requiring patient study at the hands of the Indologist. There was a time when the communal orthodoxy came in the way of opening these treasures to the world of scholars, but now the conditions are almost changed. Through the efforts of a series of scholars like Buhler, Kielhorn, Bhandarkars, Kathawate, Peterson, Weber, Leumann, Mitra, Keith, Dalal-Gandhi, Velankar, Hiralal, Kapadia and others we possess today various Descriptive Catalogues which are highly useful in taking a survey of different branches of Jaina literature Bṛhattippanikā and Jaina Granthāvali were some of the preliminary and cursory attempts to take a consolidated view of Jaina literature as a whole. Prof. H D Velankar has compiled the Jinaratnakośa, Catalogus Catalogorum of Jaina Mss, which is in the Press. It is published by the B.O R.I, Poona; and we earnestly hope that it might be out within a year or so It is a magnificent performance of major importance; and Prof. Velankar has achieved single-handed what an institution alone would have dared to undertake. When published, it will give a fresh orientation to all the studies in Jaina literature. A revision of Aufrecht's Catalogus Catalogorum has been undertaken by the Madras University; and according to the present plan, it is proposed to include 'all such literature, Jaina or Buddhistic, in Sanskrit or Prākrit, as would facilitate one's view of ancient Indian cultural developments'. The provisional

fasciculus shows that important references to critical discussions are also included The plan is really praiseworthy With the help of this work Jaina literature can be studied with much more precision in the grand perspective of Indian literature Though the field is thus being circumscribed there are still important Bhandaras at Idar Nagaur Jaipur, Bikaner and other places which are not as yet duly inspected and there are no authentic reports of the Mss collections of the South in places like Moodbidri Humch, Varanga, Karkal etc where piles of palm leaf Mss are preserved

Because of their antiquity and authenticity these collections afford material for various lines of study Some of the old Devanagari Mss at Jaipur Patna Jessalmere, Poona and Karanja go back to the 12th century A D By selecting a series of Mss, with definite dates and localities, it may be possible for us to prepare a sketch of the evolution of Devanagari alphabets from period to period and thus it would be possible to supplement the tables already prepared by Ojha and Buhler from inscriptions These Mss have attracted the attention of some scholars The Introduction of Muni Punyavijayaji to the Jaina Citra Kalpadruma (Ahmedabad 1935) is a solid contribution on the paleography and calligraphy so far as the Mss from Gujarata are concerned Prof H R Kapadia also has discussed some of these topics lately in his papers Outlines of Paleography and The Jaina Mss (JUB VI part 2 VII, part 2) The material for the study of miniature painting from these Mss is partly used by Brown, Nawab and others With regard to Jaina Cave paintings there is a recent publication, 'Sittannivasal an album of the rock cut Jaina cave temple and its painting by L Ganesh Sharma of the Pudukottah state

The Mss many of which are dated, contain a good deal of chronological material which, apart from its being highly valuable for the ecclesiastical history of the medieval and post medieval Jaina church, is often useful in fixing and confirming the dates of Indian history Though they are not found in every Mss there are three types af Praśastis first the Prasasti of the author which gives many details about him, his spiritual genealogy, when and for whom he

wrote the work etc.; second, the Lekhaka-praśasti which gives information about the copyist and for whom he copied etc.; and lastly, the Praśasti of the donor which gives some facts about his family and about the monk etc, to whom the Mss was given as a gift. Such information is more plenty in the Mss from Gujurat and Central India than in those from Karnātaka aud Tamil territory. Lately a bulky volume of Lekhaka-praśastis has been published from Ahmedabad, and if an exhaustive attempt is made, many more such volumes can be easily brought out. The admirable collection 'Sources of Karnātaka History, Vol I' (Mysore 1940) compiled by Prof. S Śrikantha Śāstri shows that even in piecing together the information of Indian history, partly or as a whole, the Praśastis of Jaina authors form a valuable source If these are duly co-ordinated and studied in comparison with the Pratimā-lekhas, plently of which are found inscribed on Jaina images and many of which are published also, and with other Jaina inscriptions, not only would new facts come to light, but well-known facts would also get inter-related, and we shall get very good results in our chronological studies It is by such interlinking of detached pieces of information that the age of the famous Mss of Dhavalā could be determined and the identity of Malli Bhūpāla could be spotted To-day it is a game of luck, but this factor of chance has to be eliminated by preparing exhaustive Indices of names etc. for all these sources on the model of Guerinot's Repertoire d'Epigraphie Jaina. The chronological material that we get from Praśastis and Inscriptions is very valuable, and sometimes the dates have been found to be so definite that one often feels that Whitney's oft-quoted remark that all dates given in Indian literary history are pins set up to be bowled down again, though true in 1879, requires to be uttered with certain reservations now.

Rice, Narasimhachar, Guérinot, Saletore and other scholars have fruitfully worked on the Jaina inscriptions which shed important light on the different aspects of Jainism and often refer to contemporary rulers etc. The inscriptions on the Jaina images and in the temples, many of which have been brought to light by Buddhisagaraji, Jinavijayaji, Nahar, Kamtaprasad and others, are very useful in literary chronology because they generally mention outstanding

contemporary teachers who are often authors themselves The Jaina inscriptions from the Epigraphia Carnatica have proved very fruitful in reconstructing the role of Jainism in Karnāṭaka and this is borne out by two latest publications namely Mediaeval Jainism (Bombay 1938) by Dr B A Saletore and Jainism and Karnātaka culture (Dharwar 1940) by Prof S R Sharma

The monograph, The Kannada Inscriptions of Kopbāl published by the Archaeological Department of H E H Nizam s Government, has given us a rich specimen of the Jaina inscriptions plenty of which it is reported, are found scattered all over the area of this dominion The department is working under the liberal patronage of H E H the Nizam and its activities are conducted by a veteran archoeologist Mr Ghulam Yazdani the worthy President of our Conference so I have every hope that many more Jaina inscriptions from this area would be brought to light in the near future

From the inscriptions found in places like Deogarh and the records actually published in the Epigraphia Indica it appears that many Jaina inscriptions which are not of outstanding importance in reconstructing the political history of the land, still lie in the archives of the Government departments of Archaeology and Epigraphy We can understand the difficulty of publishing all the records at any early date by these Departments especially when we know that the Government have always a step motherly attitude in financing such academic lines a archaeology and epigraphy Under such circum stances it is in the interest of Oriental studies that those records which are not being published officially, might be made available to bonafide scholars who are interested in Jaina inscriptions and are working in institutions like the Bhandarkar O R Institute Poona, Bhāratiya Vidyā Bhavana Bombay etc Many of these records, though not very important for the political history of the country may give valuable clues to indentify authors and places in Jaina literature Moreover they may help us in reconstructing the history of Jainism in different localities

Just as Dr Bhandarkar has brought uptodate and revised the lists of inscriptions compiled by Kielhorn it is quite necessary that

some scholar, who is working in a centre where archaeological and epigraphic publications are easily accessible, should try to bring upto date and revise the monumental publication of Guérinot noted above. Since 1906 many records have come to light in different parts of the country, and the rich wealth of facts from them cannot be adequately used in the absence of such a work. An upto date resume of all the published Jaina inscriptions would immensely advance the cause of Jaina studies.

Jaina Iconography is an important aspect of the ancient Indian iconographic art. In spite of the large number of Jaina images in the temples of the North and South and the rich theoretical material available in the Jaina texts, somehow the study of Jaina Iconography is still in its infancy. Yet one is glad to note that some important work is being done in the last few years. Details may require verification and correction, but an outline is lately attempted by Prof B. C. Bhattacharya in The Jaina Iconography (Lahore 1939). Noteworthy are some of the latest contributions on this subject by Dr H D Sankalia, viz., Jaina Iconography (NIA II. 8), Jaina Yaksas and Yaksinīs, The so-called Buddhist Images from the Baroda State, (Bulletin of the Deccan College R. I, I, 2—4). The story in stone of the great Renunciation of Neminātha (IHQ XVII. part 2). An unusual form of a Jaina Goddess and A Jaina Ganeśa of Brass (Jaina A IV, P. 84 ff; V, p 49 ff). Mr. U. P. Shaha of Baroda is working under Dr. Benoytosh Bhattachary, Oriental Institute, Baroda, on the subject of Jaina Iconography. He has collected a good deal of information from the original sources, and his book is awaiting publication. He has already published a few important papers on this topic: Iconography of the Jaina Goddess Ambikā and the Jaina Sarasvatī (JUB, Arts Nos. 1940—41). Mr V. S Agrawal has explained some iconographic terms from Jaina inscriptions (Jaina A U, p. 43 ff). Mr K K Ganguli's note on the Jaina Images in Bengal (IC, VI, ii, p 137 ff.) rightly shows that this part of the counrry needs more scrutinising exploration. In a refreshing article 'Jainism and the Antiquities of Bhatkal (Annual Report on Kannada Research in Bombay Province for 1939-40, Dharwar 1941, p. 81 ff.), Mr. R S. Panchamuki, Directar of Kannda Research, has passingly touched

some aspects of Jaina Iconography Apart from some of his in-authentic generalisations, he has given a connected account of Jainism in the South and has brought to light some new images from Bhatkal and other places which were once the cultural centres of Jainism In studying Jaina Iconography, the growth of Jaina pantheon and the origin and evolution of image worship in Jainism should be treated as independent subjects to begin with, with a historical perspective Because these two problems get intermingled at a later date we should not start by confusing them from the beginning The studies are still in their infancy we should carefully note all parallelisms in the fields of Hindu Buddhistic and Jaina iconography, and without adequate evidence we should not be eloquent in asserting borrowal from one side or the other

THE PRAMĀṆASUNDARA OF PADMASUNDARA

By

K. Madhava Krishna Sarma, M. O. L.

Aufrecht does not mention in his Catalogus Catalogorum one of the important Jaina authors, namely Padmasundara, a disciple of Padmameru of Nāgapura Tapāgaccha and a contemporary of Akbar who honoured him with various gifts on his success in a literary contest. Krishnamachariar (History of Classical Sanskrit, p 294) mentions only two of his works, viz the Rāyamallābhyudaya and the Pārśvanāthakāvya. A third work of this author, namely the Akbarśāhi Śṛṅgāradarpana has recently been discovered by me in the Anup Sanskrit Library and is now being edited in the Ganga Oriental Series I have now found a fourth work of his, namely Pramāṇasundara in the same Library.

Description—

No 8432. Paper M S. 13 folia (numbered 9—21, foll 1—8 missing) 11″×6″. 15 lines in a page 45 letters per line. Devanāgarī script Fairly well written in a small hand. Damaged Nearly three hundred years old. At the end there is this endorsement in a later hand : पु० महाराजकुंवर श्री४ अनूपसिंहजीरोछै ॥ प्रमाणसुन्दर ॥

Padmasundara is hitherto known only as a poet The extracts given here from his Pramānasundara will show that he was a great philosopher too. The work deals with the Pramānas The MS. in the Anup Sanskrit Library is incomplete It contains a portion of the Anumānakhanda and the whole of the Śabdakhaṇḍa

It begins

.... स्येति साध्यविकलम् । परमाणुषु तु साध्यमपौरुषेयत्वमस्ति । साधनममूर्तत्वं नास्ति मूर्तत्वात्तेषामिति साधनविकलम् । घटे तूभयमपि नास्ति पौरुषेयत्वान्मूर्तत्वाच्चास्येत्युभय विकलम् । रागादिमान्सुगतो वक्तृत्वादे रथ्यापुरुषवदिति रथ्यापुरुषे साध्यस्य प्रत्यक्त्वेन निश्चयात् वचनस्य च तत्र दृष्टस्य तदभावेऽप्यनिश्चयासंभवादिति संदिग्धसाध्यम् । मरणधर्मायं

रागादिति सदिग्धसाधनम् । असर्वज्ञोऽय रागादिमत्वादिति सदिग्धोभय रागादिमदसर्वज्ञस्यापि तन्निश्चेतुमशक्यत्वात् । रागादिमानय वक्तृत्वात् । तत्र रागादेरसिद्धौ तदन्वयस्यासिद्धेरि-त्यन्वय । यदनित्य तत्कृतकमिति विपरीतान्वय । अनित्य शब्द कृतकत्वाद्धटवदिति । ततोऽत्र यत्कृतक तत्तदनित्यमित्यन्वयप्रदर्शनस्यात्राभावादप्रदर्शितान्वय । तदित्थ नवान्वय दृष्टान्ताभासा ।

Fol 15 a नापि भेदव्यवहार कर्तु शक्य स्वहेतुभ्योऽसाधारणतयोत्पन्नाना सकल भावाना प्रत्यक्षेन प्रतिभासमानान्त्र भेदव्यवहारस्यापि प्रसिद्धेरलमनर्थकप्रयासेनेति प्रतिक्षिप्त इवेतरेतराभाव इति सिद्ध भेदाभेदात्मक सामान्यविशेषविषयात्मकमर्थज्ञान प्रमाणमिति ।

Fol 15 b वर्णक्रमस्यैव पदादित्वात्तदन्यस्य स्फोटात्मनोऽप्रतिपत्ते इतरेतरदोषपरिहारा वस्थायिनां कारकाणामस्येकत्र कार्यापेक्षास्वदेशाभावादि वर्णानामपि ?) यथास्वकाल विद्यमानत्व स्याविशेषादन्वयमेवाभ्युपगन्तव्यम् ।

Ends

गच्छे श्रीमत्तपाख्ये जनिर विस्फारकीर्ति

श्रीमानानन्दमेरुस्त्रिभुवनजनतानन्ददातान्द्रचन्द्र ।

तच्छिष्य पद्ममेरु श्रुतमणिनिधे पारदृश्वामितन्त्र

श्रीतस्मात्तागमानामसकलसकलब्रह्मवेदी विनेय ॥

स तस्य पद्मसुन्दर प्रमाणसुन्दर व्यधात् ।

प्रमाणयन्तु कोविदा प्रमाणिकामिमा गिरम् ॥

इति श्रीयनागपुरीयतपागच्छ

श्रीपद्ममेरुपण्डितशिष्यसद्विनेयश्रीपद्मसुन्दरविरचिते श्रीप्रमाणसुन्दरप्रकरणे शब्दखण्ड समाप्त ॥ श्रीरस्तु ॥ कल्याणमाला श्राविर्भवन्तु ॥

ADVENT OF JAINISM.*

By

Prof.—D. S Trivedi

The greatest achievement of Jaina thought is its ideal of Ahiṁsā-non-violence, towards which, as the Jainas believe, the present world is slowly, though imperfectly moving The word Jaina is derived from Jina[1]—the victor It is also applicable to all those men and women who have conquered their lower nature, and all attachment and antipathies and realised the highest[2].

It is difficult to fix a particular date for the origin of Jainism. According to the Jaina tradition the Nirvāna of Rsabha the first Tīrthaṅkara took place on Māghs Kṛṣna Caturdaśi 413452630308203177749512191999999999999999999999999999999999999999999999999960482 years ago[3]. The Hindus regard him as the eighth incarnation of Visnu whose 24 incarnations[4] are enumerated in the Purānas.

The script of Mohen-jo-Daro has not yet been successfully disciphered but according to some interpretations ventured by a scholar in some of the seals the inscription may be read as 'Namo Jineśvarāya'. The nude statues (which look like those of divinities or saints) of the Indus valley may be the prototypes of the Digambara Tirthankara statues worshipped by Nāgna-Ksapaṇaka

It has been revealed again and again in every one of the endless succeeding periods of the world by twenty-four Tīrthankaras[5] (one who has crossed over[6] i e the worldly ocean (Cf. The body is the

---

*A chapter from the author's book "Pre-Mauryan History of India" to be published shortly

1 (Unadi III 2)

2. S. Radhakrishnan's Indian Philosophy, London, 1922, Vol I 286

3 Jaina Antiquary, Vol III p. 23.

4. The Puranas differ as to the number of incarnations The incarnation theory was probably established by the 8th century A C

5. C. J. Shah's Jainism in North India (800 B. C.—A. D 526) Longman's Green & Co. 1932 p 3

6 Another plausible explanation is (तीर्थं करोति धर्मोपदेश करोतीति) one who preaches the religion

boat life is the sailor and the circle of the Births is the ocean which is crossed by the great sages[1]) The lives of many of these Tirthankaras have been worked out at great length in legendary forms in the Jaina Canon and life sketches The followings are the twenty four Tirthankaras of the Jainas —

Rsabha Ajita Sambhava Abhinandana Sumati Padmaprabha Suparśva Candraprabha Puspadanta or Suvidhi Sitala Sreyam u Vāsupūjya Vimala Ananta Dharma, Śānti Kunthu, Ara Malli Munisuvrata Nami, Nemi or Aristanemi, Parśvanatha Vardhamana Of these Mallinātha and Naminātha were born at Mithila while Munisuvrta was born at Rajagrha, and Mahavira at Kundagrama in Vaiśali All except Rsabhadeva and Neminatha attained Nirvana in the province of Bihar, Vasupūjaya at Campa and Mahavira at Majjama Pāvā and the rest at Sammeda Sikhara (Parsvanatha Hill) in the Hazaribagh district[2]

ITS RELATION TO BRAHMANISM

Their only real gods are their Tirthankaras and Siddhas (those who have attained moksa) chiefs or teachers whose idols are worshipped in their temples[3] The Jainas flatly deny an eternal God, but they believe in the eternity of existence universality of life immutability of the law of Karma or action, and right knowledge right belief and right conduct as the means of self liberation Though Karma decides all we ourselves can undo out past Karma in our present life[4] by austerities Regarding God, they argue as follows —

If God created the universe, where was he before creating it? If he was not in space, where did he localise the universe? How could a formless or immaterial substance like God create the World of matter? If the material is to be taken as existing why not take the world itself as eternal? If the creator was uncreated why not

1 Uttaradhyayana 23 73 Vol 45 S B E

2 Anekānta Vol III p 521 Jainiyon ki Drsti me Bihar

3 Hopkins E. W The Religions of India London 1910 pp 295 6

4 C. L. Shah pp 34 35

suppose the world to be itself self-existing ? Is God self-sufficient ? If he is, he need not have created the world. If he is not, like an ordinary potter, he would be incapable of the task, since by hypothesis, only a perfect being could produce it. If God created the world as a mere play of his will, it would be making God childish. If God is benevolent and if he has created the world out of his grace, he would not have brought into existence misery as well as felicity[1] If it is argued that every thing that exists must have a maker, that maker himself would, stand in need of another maker and we would be landed in a cycle[2]. The Jaina philosopher puts forward the hypothesis of a number of substances. 'The whole universe of being, of mental and material factors, has existed from all eternity, undergoing an infinite number of revolutions produced by the powers of nature without the intervention of any external deity The diversities of the world are traced to the five co-operative conditions of time (kāla), nature (svābhava), necessity (niyati), activity (karma) and desire to be and to act (udyama)[3]

The Jaina holds that men are born in lower or higher castes, determind by their sins or good works in a former existence, but at the same time by a life of purity and love, by becoming a spiritual man, everyone may attain at once the highest salvation. Caste makes no difference to him, he looks for the man in the Cāndāla but according to the Digambaras, Śūdras and women cannot attain moksa in their present life.

The Jainas were jealous of Brāhmanas on account of their haughtiness and the high-respects paid to them by the populace. According to them a born Brāhmana may become a Kevali (possessor of spiritual nature), and attain Moksa, but he cannot become a Tirthankara[4]. The Kalpasūtra says[5]: "It never has happened, nor does it happen, nor will it happen that Arhats (those entitled to the homage

1 Jinasena' Ādipurana, Ch IV, Mysore, 1933, composed in 783 A C.
2 C L Shah, p ?
3 Radhakrishnan, p 330
4 C L Shah, p 22
5 S B E XXII, (Jaina Sutras by H Jacobi) p 225

of gods and men) Cakravartins Baladevas or Vāsudevas in the past, present or future should be born in low families, mean families, degraded families, poor families indigent families, beggars families or Brahmanical families For indeed Arhats Cakravartins Baladevas, and Vāsudevas, in the past, present and future are born in high families noble families royal families, noblemen's families in families belonging to the race of Ikṣvāku or of Hari or in such like families of pure decent on both sides

The Jaina Tīrthaṅkaras are not reborn like the incarnations of Viṣṇu The Tīrthaṅkara takes his last birth and becomes a Mukta The Jainas deny the authority of the Vedas

PĀRŚVA

Everything connected with the life of Pārśva[1] happend in Viśākhā asterism He was conceived of king Aśvasena—a ruling magnet at Benares and his wife Vāmā on the fourth dark fort night of Pauṣa at midnight in B C 949 He was the people's favourite He lived thirty years as a householder He left the city on the eleventh day of Pauṣa dark fortnight After fasting for a three and a half days without drinking water he put on a divine robe, tore out his hairs and entered houselessness He neglected his body for 83 days and entered Kevala on the fourth day of dark Caitra under a dhātaki tree He had 16 000 Śramaṇas with Ārya datta at their head 38 000 nuns with Puṣpacūlā at their head, 164,000 lay votaries with Suvrata at their head He was a Kevalin for less than 70 years, and a Śramaṇa for full 70 years And he died on the eighth day of the bright Śrāvaṇa at the age of 100 in B C 849 on the summit of Mount Sammeda His Lāñchana is a snake

HIS HISTORICITY

The return to reason in the stature and years of the last two Tīrthaṅkaras induced some scholars 'to draw a probable inference

---

1 See Kalpasūtra (S B E.) p 271 74
The name was given to him because before his birth his mother lying on her couch saw in the dark a black serpent crawling about (Pārśve)

exchanged and the Brāhmana child being of extraordinary qualities was brought up in a royal family[1]. On his birth there was all round prosperity and gold and silver increased, so the child was called Vardhamāna by his parents. He was later on called Śramana because he was devoid of love and hate. He stood firm in midst of dangers and fear, patiently bore hardships and calamities, adhered to the chosen rules of penance, was wise, indifferent to pleasure and pain, rich in control and gifted with fortitude, so he was called Mahāvīra by the gods (wise)[2].

His mother Triśalā was the sister of the chieftain of Vaiśālī. In Nandivardhana and Sudarśana he had his eldest brother and sister respectively. Mahāvīra married Yaśodā of Kauṇḍinya gotra and had by her a daughter Anojā also called Priyadarśanā who was married to his nephew Prince Jāmāli—a future disciple of his father-in-law[3] and the propagator of the first schism in the Jaina church[4]

On Mārgaśiras Kṛṣṇa 10th, when the shadow had turned towards the east (i e in the evening), at the age of 30, he left home with the permisson of his elder brother and entered the spiritual career which in India just as the church in the western country, seems to have offered a field for ambitious younger sons[5]. He wore clothes for one year and one month. (According to the Digambaras he wore no clothes). After that he walked naked For more than 12 years, he neglected the care of his body. In the thirteenth year on Vaiśākha Śukla 10th, he reached the highest knowledge and intuition called Kevala in the evening, outside the town of Jambhiyagāma on the bank of the river Ṛjupālikā[6], not far from an old temple,

---

1 There was no transfer of the embryo according to the Digambara works and Mahāvīra was born in a Kṣatriya family

2 Kalpasūtra, 255

3 According to the Digambaras, he was not married at all

4 C. L Shah, p 24

5. Radhakrishnan, p 287.

6 The river Barakar near Giridih in the district of Hazaribagh From an inscription in a temple about 8 miles from Giridih, containing foot-prints of Mahāvira, it appears that the name of the river, on which it was originally situated but in a differe[illegible] Ṛjupālika, the present temple being erected with the [illegible] old ruined temple removed to this place Hence [illegible] temple must have been Jṛmbhikāgrāma near Par[illegible] Dey's Geographical Dictionary of An[illegible] 1927

in the field of a householder Samāja under a Sal tree He stayed the first rainy season in Atthigāma He spent three rainy seasons in Campā and Pṛsticampā, twelve in Vaiśālī and Vanig grāma[1], fourteen in Rājagṛha and the suburb of Nālandā, six in Mithilā, two in Bhaddiya one in Alabhikā one in Panitabhūmi (a place in Vrajabhūmi), one in Śrāvasti, and one and the last at Pāpāpuri in king Hastipāla s office of the writers[2]

He attained Nirvāṇa at the age of 72 on the fifteenth day of the dark Kārtika in the last quarter of the night at Pāvāpurī—9 miles to the east of Rajgir and became a mukta—in B C 527 The eighteen confederate kings of Kāśi and Kosala and nine Mallakis and nine Licchavis, instituted an illumination of his material remains He had an excellent community of 14 000 Śramanas with Indrabhūti at their head, 36,000 nuns with Candanā at their head 159 000 lay votaries with Samkhaśataka at their head, 3,18,000 female lay votaries with Sulasī and Revatī at their head and 300 sages who knew the Pūrvas (collections)[3] His Lāñchana is a lion *

To be Continued

---

1 The ancient Town of Vaiśāli comprised three districts or quarters Vaiśāli proper (Basarh) Kuṇḍapura (Vasukunḍa) and Vaniggrama (Bania) Dey p 107

2 Kalpasūtra

3 Ibid pp 266–67

Editorial note will appear in the next issue—K B Shastri

Review.

Annual Report of the Mysore Archaeological Department for the year 1941, edited by Dr. M. H. Krishna, Director of Archaeology, Mysore, pp. 285. Price not stated

The book under review has been well prepared under the learned guidance of Dr. M.H Krishna, Professor of History and Archaeology of the Mysore University. Chapters on epigraphy, numismatics, iconography, manuscriptology, library and museum have been carefully planned and discussed elaborately. A thorough study of the report would amply repay the reader to give a detailed history of the state in it sources The letter of Vira Rajendra Wodeyar, Raja of Koorg. to the British written in 1799A D is an interesting study and a historical document of great importance It is written in Kannada and signed in English. It contains 26 illustrations and a nice index, The state authorities as well as the Director af Archaeology are to be congratulated for undertaking the huge compilation.

Report of the Pudokkottai State Museum for the Fasli Year 1351. pp. 24

There is nothing particular to be noted in it Like all the reports of the museum it serves its purpose well for the visitors of the museum and especially for the local institutions interested in its preservation and glory. It is been carefully planned by Mr. K. R. Srinivasa Aiyar, the curator of the museum.

D. S. T.

Restraint an important Factor in Ancient Indian Penalogy

By

Prof Nalina Vilocana Sarma M A

Considered in the light of modern ideas in the field of Penalogy those embodied in the ancient Sanskrit books dealing with law prove to have attained to a developed stage something like which was not even contemplated in Europe till before the end of the eighteenth century In view of this it is not quite true that 'the notion of an offence against the state is of entirely modern growth and the theory that punishment is imposed for the sake of reforming the criminal and detering others from following the example is even still more modern [1]

The problems which have to be faced in practical penalogy are numerous and intricate It is doubtful if it has been brought to a satisfactory level even in the most advanced countries Ancient Indian Penalogy too, is not without its short comings It is, however, to its credit that some of the fundamental ideas of modern Penalogy are prescribed unanimously as essential by the ancient law givers of India

As Kenny[2] sums it up 'according to the most generally accepted writers—as, for instance Beccaria Blackstone, Romilly, Paley Feuarbach—the hope of preventing the repetition of the offence is not only a main object, but the sole permissible object of inflicting criminal punishment" It cannot be claimed that this was the single purpose of punishment in Ancient India But it is not so either in modern Penalogy This fact however, is being accorded gradual recognition in modern times and it formed the main if not the sole factor of Ancient Indian Penalogy

In Europe the sole purpose of punishment was retribution till almost the end of the eighteenth century Punishment accordingly,

1 Cherry Growth of Criminal law in Ancient Communities p 3

2 Outlines of Criminal Law p 30

was rigid and did not take note of age, sex, circumstances etc in the least In India on the contrary, punishment was regarded from the earliest times to be an act about which the authorities should exercise the utmost care and discretion

As already pointed out, the sole factor of European Penalogy was retribution almost up to the end of the eigteenth century. Gautama (c 600—400 B C), on the other hand, derives Daṇḍa from Dam='to restrain'[1]. That this is not putting into the mouth of Gautama what he may never have intended is proved by the considerations prescribed by him as necessary before punishment is actually awarded, viz. the consideration of the following facts—the status of the criminal, his physical condition. the nature of his crime and whether the offence has been repeated[2] Vasistha improves upon it[3] and Visnu also refers to the point briefly[4]

The idea is put forth clearly in the Bṛhaspati Sutra where Niti (i e. Daṇda Niti) is likened to a tree on a river's bank[5] which indicates the limits of the bank as well as holds it firm. In the case of punishment this may be interpreted to show the limit which nobody can cross without meeting restraint from authorities vested with power. It is further laid down that a king versed in Daṇḍa-Nīti should get to know the action suitable to place and time as also good and had policy[6].

Kautilya Arthaśāstra is a strictly practical treatise Dharma-Sāstra works may be accused of idealism but Kautilya—Arthaśāstra escapes the critisism But this work too agrees completly with the critical attitude taken up by Gautama and others before and after him. It attaches great importance to punishment, as a matter of fact Danda is said to be the only thing on which depends the well being and progress of the sciences of Ānviksakī, the three Vedas and Vārtā.

1. XI 28
2 XII 48
3 XIX 9—10
4 III 91—92
5 1 102
6 VI 1

But he disagrees emphatically with those authorities who hold punishment to be the be all and end all of successful administration If such a rigorous attitude is taken administration is bound to prove unpopular, althogh, it is equally inadvisable to eschew punishment altogether, in which case disrespect for authority will be engendered in the mind of the people As such his advice given is to inflict punishment impartially, in tho right manner and with consideration the only course of action which will lead the people to the Dharma, Artha and Kāma—ends of life[1] We see here that Kautilya deprecates strongly the policy of awarding punishment for the sake of punishment—thus barring the idea of retribution The general welfare of the people to which punishment should lead according to him further bars any idea of mere 'satisfaction of justice which is commonly found to be closely associated with the primitive idea of retribution

Whatever difierence of opinion may have prevailed during or before Kautilya, as is clearly manifasted by his reference to authorities holding a different opinion the principal Dharma Śāstra works are unanimous as far as this basic principle of punishment is concerned

Manu emphasizes the importance of the principle in detail and more than once He emphatically lays down that punishment must be meted out appropriately having carefully considered the time place strength and learning of the offender He includes in his statement the salient features of Gautama and Vasiṣtha, the latter of whom is more elaborate on this point than any of the earlier writers Manu points out its importance and advantages It is not only the offender who suffers by the wrong application of punishment but the repercussion is far and wide and all the people may be affected—'When meted out properly after due investigation it makes all people happy but when meted out without due investigation it destroys all things'

They refer to it in the following chapter when actually prescribing

1 See I 1
2 VII 16
3 VII 19

punishments for specified offences as a sort of warning for the authority in whom the power to punish is vested[1].

Yājñavalkya, as usual, puts it briefly but without omitting any point of importance It is interesting to have a summary of this issue in his own words 'The king shall inflict punishment upon those who deserve it, after duly taking into consideration the crime, the place and the time, as also the strength, age, act and wealth of the culprit'[2]

Nārada also emphasizes the point adding only the consideration of motive[3] Brhaspati Smrti has nothing new to add[4].

Kāmandaka Nītisūtra which is rightly regarded as the epitome of Kautilyas' treatise versifies the discussion given by his predecessor[5].

The most comprehensive statement is, however, contained in a verse quoted by Vardhamāna which includes in all, the consideration of eleven points before punishment can be awarded. These are (1) taste (2) object (3) amount (4) application of punishment (5) the connections of the offender (6) age (7) pecuniary condition (8) merits (9) place (10) time and (11) the particular offence[6]

The law-givers are not satisfied merely with an idealogical rationalization of the system of awarding punishment. That the actual grades of punishment could be justified only after the aforesaid factors were taken into consideration is clear from the general rule indicating the precedence of types of punishment according to the nature of the offence While picking-pockets was a capital offence in the days of Elizabeth and the penalty for stealing five shillings and upwards was transportation even in 1810 in England without any externating considerations the ancient law-givers definitely lay down that admonition, reproof, fine and corporal

1. VIII 126 324
2 I 3682
3. Punishments 38
4 Quoted in Danda Viveka p 20 (Gaekwad Oriental Suries).
5 II 36—39
6 Danda Viveka (Gaekwad Oriental Series) p 36-

punishments should be resorted to one by one and only in very serious cases the strictest punishment should be inflicted *on the first offender*[1]

It is clear from the following study that retribution was not the motive behind the ancient Indian Penalogy It was, on the other hand something far more beneficial which took into consideration the interests not only of the wronged individual society or justice alone but *also of the offender* who may have erred simply because it is human to err

It is further shown by the provision of a systematic code of Prāyascitta parallel to and completing the ends of secular punishment. As a high church dignitary of present day England has said, 'severity to the offender may be necessary but it must not represent the vengeance either of the wronged individual or the society although the latter should promptly repudiate the offence of its particular member And what is more important after this repudiation has been effectively employed is that every effort should be made for the delinquant member to be again restored' to his former condition This is truly provided for in the system of Prayascitta, the philosophy and elaborate nature of which has not been given due credit up till now

We have traced above the gradual and consistent development of the ideas of treating crimes and their perpetrators rationally from the earliest Dharma Sūtra and Dharma Śāstra works The ideas can stand comparison with the most modern ones on the question

The study however cannot be complete unless it takes into account the attitude of the Buddhists and the Jainas on this question The essentially humanitarian systems professed by the Buddhists and the Jainas believe in Ahimsa and Forgiveness in the extreme Buddhist and Jaina rulers nevertheless could not be expected to do away with punishment in day to day administration

The space and time at the disposal of the writer being limited the questions will be discussed in this light in a subsequent paper

---

1 Manu VIII 129—130 Yajñ I 137 Bṛhaspati (Extract in Daṇḍa Viveka p 63) A quotation given by Haradtta on Gautama Dh Sū [illegible] 29

The difference in the order of precedence as prescribed by Manu and Yajñ in respect of admonition and reproof though not important may be noted The quotation in Haradatta on Gau Dha Sū agrees with the latter while Bṛ Smṛ agrees with the former

RULES

1 The 'Jaina Antiquary' is an Anglo half yearly Journal which is issued in two parts *i.e.*, in June and December

2 The inland subscription is Rs 3 (including 'Jain Sidhanta Bhaskara') and foreign subscription is 4*s* 8*d* per annum, payable in advance Specimen copy will be sent on receipt of Rs 1-8-0

3 Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication The rates of charges may be ascertained on application to the Manager, Jaina Antiquary The Jaina Sidhanta Bhavana, Arrah (India) to whom all remittances should be made

4 Any change of address should also be intimated to him promptly

5 In case of non receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication the office at Arrah should be informed at once

6 The journal deals with topics relating to Jaina history, geography art, archaeology iconography epigraphy, numismatics religion literature philosophy, ethnology folklore etc., from the earliest times to the modern period

7 Contributors are requested to send articles notes etc. type-written and addressed to K P Jain Esq, M R A S, Editor, Jaina Antiquary Aliganj Dist Etah (India)

8 The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles notes etc.

9 The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid

10 Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India)

11 The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology —

Prof HIRALAL JAIN, M A, LL B
Prof A N UPADHYE M A D Litt
B KAMATA PRASAD JAIN, M R A S
Pt K BHUJABALI SHASTRI VIDYABHUSANA

THE PRAŚASTI SAMGRAHA

Edited by

Pt. K. Bhujabali Śāstri, Vidyābhūṣan.

With an introduction by—Mahamahapādhya Dr. R. Shamshastri.

pp. 5+200+25 = 225 — Price Rs. 1-8-0

'It is indeed a very valuable reference book, full of information and presented in a neat form.'

Dr. A. N. Upadhya, Kolhapur,

'It is a very useful compilation very carefully prepared.'

Prof. D, L Narasimhachar, Mysore

'You are doing real service to culture by publishing notes on literary works on Jainism and other works also hitherto unpublished.

Dr. S. Sheshgiri Rao, Vizianagaram.

'The descriptive catalogue of Sanskrit Mss. will be highly useful publication when completed.

Prof. Chintaharan Chakravarti, Calcutta.

जैन-सिद्धान्त-भवन द्वारा प्रकाशित अन्य ग्रन्थ

(१) मुनिसुव्रतकाव्य [चरित्र]—अर्हद्दास [संस्कृत और भाषा-टीका-सहित]— सं० पं० के० भुजबली शास्त्री तथा पं० हरनाथ द्विवेदी ... २)

(१) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिकशास्त्र [भाषा-टीका-सहित]—सं० प्रो० रामव्यास पाण्डेय, ज्योतिषाचार्य .. .. १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह—सं० बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० ॥)

(४) वैद्यसार—सं० पं० सत्यन्धर, आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ .. ।॥)

(५) तिलोयपण्णत्ती [प्रथम भाग]—सं० डा० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ... ।॥)

(६) Jaina Literature In Tamil *by* Prof A Chakravarti, M A, I E S, ... Price Rs. 2

PRINTED BY D. K JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD

ARRAH.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १०   किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol IX   No II

Edited by

Prof Hiralal Jain M A LL.B
Prof A N Upadhye M A D Litt
B Kamata Prasad Jain M R A S
Pt K Bhujabali Shastri Vidyabhushana

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
[JAINA SIDDHANTA BHAVANA]
ARRAH, BIHAR INDIA

DECEMBER, 1943

जैन-सिद्धान्त-भास्कर पर कुछ सम्मतियां

"जैन संशोधन का एकमात्र पाणमासिक पत्र है। इसमे प्रकाशित लेख जैन साहित्य के लिये अमूल्य होते हैं।"

—जैनमित्र

"जैन समाज मे पुरातत्त्व अन्वेषण सम्बन्धी लेखों को प्रकाशित करने में 'भास्कर' सफल रहा है। सम्पादक महोदयों का प्रयत्न सराहनीय है।"

—जैनसंदेश

"इसमें जैन पुरातत्त्व सम्बन्धी खोजपूर्ण और ठोस सामग्री रहती है।"

—खण्डेलवाल जैन हितेच्छु

"इसमें सभी लेख अन्वेषणात्मक है। जैन समाज का एकमात्र ऐतिहासिक पत्र यही है। इसका स्थान वही है जो आधुनिक विश्वविद्यालयों में प्रकाशित खोजपूर्ण जर्नलों का है। अथवा यह भी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी कि निष्पक्ष किसी भी अन्य मतावलम्बी विद्वान् के हाथ में देने योग्य जैन समाज का यही पत्र है। पत्र अत्यन्त उपयोगी है।"

—जैन महिलादर्श

"यह षाण्मासिक पत्र यथावत् अपनी उत्कृष्टता की रक्षा करता आ रहा है। लेखों में वैविध्यता एव विद्वत्ता स्पष्ट झलक रही है।"

—अध्यात्मप्रकाश

"The paper, no doubt has been appreciated by the visitors very much."

—Ganga Saran Mathur
Librarian & Secretary
Maharaja's public Library, Jaipur.

Jaina Literature in Tamil अपने ढग की अनूठी पुस्तक है। इस ग्रन्थ के पढ़ने से हम अच्छी तरह से जान सकते है कि प्राचीन तमिल साहित्य की उन्नति में जैनधर्म का कितना महत्त्वपूर्ण हाथ है। उत्तर भारत के लोगो के लिये यह ग्रन्थ एक विशाल रत्न-राशि को प्रकट कर रहा है।

—प्रो० बलदेव उपाध्याय एम० ए०, बनारस

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १०] [किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम ए, एल एल बी
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये एम ए, डी लिट्
बाबू कामता प्रसाद जैन, एम आर ए एस
पं० के० भुजबली शास्त्री विद्याभूषण

जैन सिद्धान्त भवन आरा द्वारा प्रकाशित

रत में ३) | विदेश में ३॥ | एक प्रति का १॥)

वि० सं० २०००

विषय-सूची

श्रीजिनाय नमः

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक पाण्मासिक पत्र

भाग १० | दिसम्बर, १९४३। पौष, वीर नि० सं० २४७० | किरण २

सुकौशलचरित

[ले० श्रीयुत रामजी उपाध्याय, एम० ए०]

प्राचीन भारत की साहित्यिक भाषायें संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश रही हैं। अपभ्रंश की उत्पत्ति और इसका विकास संस्कृत, पालि और प्राकृत के पश्चात् हुआ। अपभ्रंश काव्यों की रचना का प्रथम उल्लेख वलभी के धरसेन द्वितीय के शिलालेख में मिलता है। इस शिलालेख का समय ५५९ और ५६९ ई० के बीच का है। इस लेख में धरसेन के पिता गुहसेन के विषय में कहा गया है कि वे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं की प्रबन्ध रचना में निपुण थे।[1] इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ६ वीं शताब्दी में अपभ्रंश में स्वतन्त्र रूप से रचनायें होती थीं। उस समय से लेकर कम से कम १५वीं शताब्दी तक अपभ्रंश भाषा साहित्यिक भाषा रही है। सुकौशलचरित अपभ्रंश के साहित्यिक जीवन के अन्तिम काल की रचना है। अभी तक अपभ्रंश भाषा का कोई भी ग्रंथ इसके बाद का लिखा हुआ नहीं मिला है।[2]

---

१ बम्बे गजेटियर, प्रथम भाग पृष्ठ ९०।

२ रयधू के प्रायः समकालीन यशःकीर्ति के लिखे हुये दो अपभ्रंश ग्रन्थ हरिवंशपुराण और चन्द्रप्रभचरित मिले हैं। यशःकीर्ति संवत् १४८६ वि० में ग्वालियर काष्ठासंघ के आचार्य थे। इनका उल्लेख श्रीधररचित सुकुमारचरित की हस्तलिखित प्रति के अन्त में किया गया है। हरिवंशपुराण और चन्द्रप्रभचरित का उल्लेख नाथूराम प्रेमी के 'जैन साहित्य और इतिहास' के पृष्ठ ३८० में मिलता है। सुकुमारचरित की विवेचना प्रो० हीरालाल जैन ने नागपुर युनिवर्सिटी जर्नल दिसम्बर १९४२ के अपभ्रंश साहित्य विषयक लेख में की है।

सुकौशलचरित[1] के रचयिता जैनधर्मानुयायी पण्डित रयधू थे। इनका दूसरा नाम सिंहसेन भी है।[2] इनके पिता का नाम हरसिंघ या हरिसिंह था। इनकी रचनाओं का समय ईसा की १५वीं शताब्दी का मध्यकाल है।[3] रयधू ग्वालियर के गणधर कुमारसेन के शिष्य थे। इन्होंने गणधर परम्परा में विजयसेन, क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति और कुमारसेन का उल्लेख किया है।[4] इनका जीवन प्रायः धार्मिक ग्रंथों के लिखने में ही व्यतीत हुआ। अन्य अपभ्रंश कवियों की तरह ये भी आश्रयदाताओं अथवा गुरुजनों के आदेशानुसार ग्रंथ-रचना करते थे। इनको अपने पाण्डित्य का तनिक भी अभिमान नहीं था। इन्होंने अपने को 'जडमति' और 'अगर्व' आदि कहा है।[5] अपने विषय में ये लिखते हैं कि मुझे शब्द, अर्थ और पिङ्गल का ज्ञान नहीं है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि कवि में विद्वत्ता की किसी प्रकार कमी थी। इनके गुरु कुमारसेन ने इनको पण्डित और बुध आदि उपाधियों से सम्बोधित किया है।[6]

सौभाग्य वश रयधू ने अपनी कुछ कृतियों का उल्लेख सुकौशलचरित में किया है। इन्होंने स्वरचित नेमिजिनेन्द्रचरित[7] (हरिवंशपुराण) के विषय में लिखा है कि इसका

---

१ इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति जैन-सिद्धान्त-भवन आरा से लेखक को प्राप्त हुई। इस प्रति के अन्त में इसकी प्रतिलिपि के विषय में लिखा गया है· यह प्रति मु० देहली खजूर की मसजिद वाले नये पंचायती मंदिर में से सवत् १६३३ विक्रम की लिखी हुई प्रति से लिखी जो कि बाबू देवकुमार जी द्वारा स्थापित श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा के लिये संग्रहार्थ विक्रम संवत् १९८७ के मार्गशीर्ष कृष्णा १४ को लिख कर तैयार हुई।

२ प्रो० हीरालाल जैन लिखित इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज़ १९२५ ई० के अपभ्रंश साहित्य विषयक लेख मे मेवेश्वरचरित के रचयिता सिंहसेन का दूसरा नाम रयधू लिखा गया है।

३ पं० परमानन्दजी पण्डित रयधू का ग्रन्थरचनाकाल वि० सं० १४९७ से वि० सं १५२१ तक अर्थात् वि० की १५वीं शताब्दी का उत्तरार्ध एवं १६वी शताब्दी का पूर्वार्ध मानते हैं। [अनेकान्त वर्ष ५, पृष्ठ ४०४] —के० बी० शास्त्री।

४ सुकौशलचरित १.२।

पं० परमानन्दजी ने रयधू को काष्ठासंघ के माथुरान्वय और पुष्करगण के भट्टारक यशःकीर्त्ति का शिष्य तथा भट्टारक गुणकीर्त्ति का प्रशिष्य बतलाया है। [अनेकान्त वर्ष ५, पृष्ठ ४०२] —के० बी० शास्त्री

५ सुकौशलचरित १. ५।

६ सुकौशलचरित १ ३, ४.।

७ इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति हरिवंशपुराण रयधू-रचित प्राकृत ग्रन्थ के नाम से जैन-सिद्धान्त-भवन आरा में है। सम्भवतः यह अपभ्रंश-प्राकृत का काव्य है।

पठन पाठन आनन्दप्रद है। खेऊ या खेमसी साहु के लिये इन्होंने पार्श्वचरित की रचना की थी। बलभद्रपुराण की रचना कवि ने स्वान्त सुखाय ही की।[1] इन ग्रंथों के अतिरिक्त रयधू के लिखे हुए मेघेश्वर चरित और दशलाक्षणिक जयमाला नामक दो अपभ्रंश ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ भी प्राप्त हुई हैं।[2] रयधू ने एक करकण्डुचरित नामक ग्रंथ भी लिखा है जिसका उल्लेख प्रो० हीरालाल जैन ने कनकामर रचित करकण्डुचरित की भूमिका के पृष्ठ १३ में किया है।[3]

रयधू ने सुकौशलचरित की रचना अपने गुरु कुमारसेन गणधर के आदेशानुसार की थी। कवि ने गणधर से ग्रंथ की उपादेयता के निमित्त इसके प्रचार करने वाले की आवश्यकता बतलाई। इस ग्रंथ का विस्तार करने के लिये गणधर ने ग्वालियर के आणा साहु के पुत्र रणमल्ल का नाम बतलाया और यह ग्रंथ उन्हीं के आश्रय में लिखा गया।[4] इस ग्रंथ की रचना का समय बतलाते हुये कवि ने लिखा है

---

१ जह पइ णेमि जिणिंदहु केरउ। चरिउ रइउ बहु सुक्ख जणेरउ ॥
अण्णु वि पासहु चरिउ पयासिउ। खेऊ साहु णिमित्त सुहासिउ ॥
बलहद्दउ पुराण पुणु तीयउ। णियमण अणुराए पइ कीयउ ॥
तहु सुकोसल चरिउ सुहकरु। विरयहि भवसय दुक्ख खयकरु ॥

सुकौशल चरित १ ३

२ प्रो० हीरालाल जैन लिखित इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज १९२५ ई० के अपभ्रंश साहित्य विषयक लेख म इन दो ग्रन्थों के विषय में लिखा गया है।

३ प० परमानन्दजी ने अनेकान्त वर्ष ५, पृष्ठ ४०१ में प्रकाशित 'अपभ्रंश भाषा के प्रसिद्ध कवि प० रइधू' नामक अपने लेख में इनके २३ ग्रन्थों का नाम गिनाया है। वे इस प्रकार हैं १ आदिपुराण (महापुराण) २ यशोधरचरित्र ३ वृत्तसार ४ जीवंधरचरित्र ५ पार्श्वनाथपुराण ६ हरिवंशपुराण ७ दशलक्षणजयमाला ८ सुकौशलचरित्र ९ रामपुराण १० षोडशकारण जयमाला ११ महावीरचरित्र १२ करकण्डुचरित्र १३ अणथमीकथा १४ सिद्धचक्रचरित्र १५ जिणधरचरित्र १६ उपदेशरत्नमाला १७ आत्मसम्बोधन १८ पुण्याश्रवकथा १९ श्रीपालचरित्र २० सम्मत्तगुणनिधान २१ सम्यग्गुणारोहण २२ सम्यक्त्वकौमुदी २३ सिद्धान्तार्थसार।

—के० पी० शास्त्री।

४ रणमल्ल बहुत धनी वणिक् थे। कवि ने आश्रयदाता की वंशावली और प्रशंसा ग्रन्थ के अन्त और प्रथम संधि के चतुर्थ कडवक म की है। प्रत्येक संधि के अन्त में भी कवि रणमल्ल के प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट करता है। द्वितीय संधि के प्रारम्भ म आश्रय दाता को आशीर्वाद देते हुये संस्कृत भाषा में कवि ने लिखा है

अभिमतगुणधाम काम जगज्जनवल्लभ।
कलमनीभासाल (?) फल फलकेनिद ॥
जयतु जगता सारः सता शिरसि शेखर।
परमधार्मिक साधुरणमल्ल नामक ॥२ १

भगवान् महावीर की जन्मभूमि

[ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

विख्यात बौद्ध विद्वान् राहुल सांकृत्यायन[1] आदि कुछ विद्वानों का मत है कि भगवान् महावीर का निर्वाण गोरखपुर जिला में कुशीनारा के निकट वर्तमान 'पपउर' नामक ग्राम में हुआ था। परन्तु वास्तव में भगवान् महावीर की निर्वाणभूमि वही पावा है जो विहार शरीफ से आग्नेय कोण मे ७ मील की दूरी पर पावापुरी के नाम से प्रसिद्ध है। श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों में इसे मध्यमा पावा कहा है। क्योंकि जैन और बौद्ध साहित्य के समन्वय से पावा तीन सिद्ध होती है और पहली एवं तीसरी इन दोनों के बीच में समानान्तर अवस्थित होने से यह उल्लिखित दूसरी पावा मध्यमा पावा के नाम से प्रसिद्ध हो गई थी। हाँ, बौद्ध ग्रन्थों में तीसरी पावा तथा जैन ग्रन्थों में पहली पावा का उल्लेख नहीं मिलता है। यही कारण है कि अन्वेषक विद्वान् दो ही पावाओं का उल्लेख करते हैं। तीन पावाओं में पहली गोरखपुर जिला मे, दूसरी पटना जिला में और तीसरी हजारीबाग जिला में अवस्थित थी।

अस्तु, जैन समाज को भगवान् महावीर की निर्वाणभूमि का जब ठीक-ठीक पता लग गया और वहां पर विशाल मन्दिर एवं धर्मशालाएँ भी बन गई तब इसे महावीर की जन्मभूमि के अन्वेषण की भी चिन्ता हुई होगी। उसने यह सोचा कि जब भगवान् का निर्वाण पावापुरी में हुआ है तब उनका पवित्र जन्म भी इसीके आसपास ही कहीं हुआ होगा। जैन जनता अच्छी तरह जानती थी कि जैन ग्रन्थों में भगवान् महावीर का जन्म कुण्डलपुर[2] में लिखा है। अचानक नालन्दा से सटा हुआ लगभग दो मील की दूरी पर एक कुण्डलपुर नामक गांव का इसे पता भी लग गया। फिर पूछना ही क्या है, ज्ञात होता है कि यही कुण्डलपुर महावीर की जन्मभूमि मान ली गई और यहां पर भी मन्दिर, धर्मशाला आदि बन गई। तभी से यह स्थान भगवान् महावीर की जन्मभूमि के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

परन्तु यह कुण्डलपुर भगवान् महावीर की जन्मभूमि नहो हो सकती। क्योंकि दिगम्बर[3]

१—'बुद्धचर्या'।

२—"उन्मीलितावधिदृशा सहसा विदित्वा तज्जन्मभक्तिभरतः प्रणतोत्तमांगाः।
घंटानिनादसमवेतनिकायमुख्या दिष्ट्या ययुस्तदिति कुण्डपुरं सुरेन्द्रा ॥" १७—६१
[महाकवि असग-(ई० सन् ९८८) विरचित वर्धमानचरित्र]

३ (क) "सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवास्ये विदेहकुण्डपुरे।
देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान् संप्रदर्श्य विभु" ॥४॥
[आचार्य पूज्यपाद-(वि० ५ वीं शताब्दी) विरचित दशभक्ति पृष्ठ. ११६]

एवं श्वेताम्बर[1] दोनों आम्नाय के साहित्य में महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर विदेह अथवा वैशाली[2] में लिखा हुआ मिलता है।

जिस कुण्डलपुर को जैन समाज इस समय महावीर की जन्मभूमि मान रहा है वह विदेह या वैशाली में न होकर मगध की प्राचीन राजधानी राजगृह के अति निकट वर्तमान है। भगवान् महावीर के जमाने में इस राजगृह में शिशुनागवंश का प्रतापी राजा, महावीर का मौसा श्रेणिक या बिम्बसार राज करता था। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि भगवान् महावीर के पूज्य पिता, इक्ष्वाकु या नाथवंश के मुकुटमणि सिद्धार्थ जैन ग्रन्थों में कुण्डपुर के राजा के रूप में कहे गये हैं। कौटिल्य-अर्थशास्त्र से स्पष्ट है कि प्रजातन्त्रराजसंघ में क्षत्रियकुलों के मुखियों की कौंसिल मुख्य-कार्य कर्त्री थी और इस कौंसिल के सदस्यों का नामोल्लेख राजा के रूप में होता था।[3] नाथवंशीय क्षत्रिय वज्जिवंशीय प्रजातन्त्रात्मक राजसंघ में सम्मिलित थे। यही कारण है कि भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ कुण्डपुर के राजा कहलाते थे। बल्कि इनका विवाह वैशाली के लिच्छवि क्षत्रियों के प्रमुख नेता राजा चेटक

(ख) 'अथ देशोऽस्ति विस्तारी जम्बूद्वीपस्य भारते।
विदेह इति विख्यातः स्वर्गखण्डसमः श्रियः ॥१॥
तत्राखण्डलनेत्रालीपद्मिनीखण्डमण्डनम्।
सुखाम्भः कुण्डमाभाति नाम्ना कुण्डपुरं पुरम्' ॥२॥
[आचार्य जिनसेन (वि० ८ वीं शताब्दी) विरचित हरिवंशपुराण सर्ग १ पत्र २]

(ग) "तस्मिन् षण्मासशेषायुष्यानाकादागमिष्यति।
भरतेऽस्मिन् विदेहाख्ये विषये भवनांगणे ॥२५१॥
राज्ञः कुण्डपुरेशस्य वसुधारापतत्पृथु।
सप्तकोटीमणीः सार्द्धाः सिद्धार्थस्य दिनं प्रति" ॥२५२॥
[आचार्य गुणभद्र (वि० ९वीं शताब्दी) विरचित उत्तरपुराण पत्र ७४]

(घ) "अथेह भारते क्षेत्रे विदेहाभिध ऊर्जितः। देशः सद्धर्मसंघाद्यैर्विदेह इव राजते। ७—२
इत्यादिवर्णनोपेतदशस्याभ्यन्तरे पुरं। राजते कुण्डलाभिख्यं ॥" ७—१०
[महाकवि सकलकीर्ति (मृत्युकाल ई० सन् १४६४) विरचित वर्धमानचरित्र]

(च) "अथास्मिन् भारते वर्षे विदेहेषु महर्द्धिषु।
आसीत्कुण्डपुरं नाम्ना पुरं सुरपुरोपमम्" ॥१॥
[वामनन्दि विरचित पुराणसंग्रह (हस्तलिखित) पृ. ८२ पूर्वार्ध]

१—सूत्रकृताङ्ग—१ २ ३ २२। उत्तराध्ययनसूत्र—६ १७। कल्पसूत्र—११०।
भगवतीसूत्रटीका—२ १ १२ २। [जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ३, पृष्ठ ४१]

२—कुण्डग्राम या कुण्डलपुर वैशाली का ही अपर भाग था।
[Ksatriya clans in Buddhist India Page 36]

३—'कौटिल्य अर्थशास्त्र' का मैसूर-संस्करण, पृष्ठ ४५५।

की पुत्री प्रियकारिणी अथवा त्रिशला के साथ हुआ था। ऐसे सम्भ्रान्त राजवंश से वैवाहिक सम्बन्ध होना भी इनकी प्रतिष्ठा और गौरव का ज्वलन्त निदर्शन है।

आधुनिक साहित्यान्वेषण से सिद्ध हो चुका है कि नाथ या ज्ञातृक क्षत्रियों का निवास-स्थान प्रधानतया वैशाली (वसाड), कुण्डग्राम एवं वणिग्य ग्रामों में था। साथ ही साथ यह भी प्रकट हो चुका है कि नाथवंशीय क्षत्रिय कुण्डग्राम से ऐशान्य दिशा में अवस्थित कोल्लाग में अधिक सख्या मे रहते थे। वैशाली के निकट ही कुण्डग्राम वर्तमान था, जो सम्भवतः आजकल का 'वसुकुण्ड' है। जैन ग्रन्थों के अनुसार भगवान् महावीर का जन्म यहीं हुआ था। कोई-कोई विद्वान् कोल्लाग को ही इनका जन्मस्थान मानते हैं। परन्तु यह बात दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों की आस्था के प्रतिकूल है।

नाथवंशीय क्षत्रियों के विषय में इतना और जान लेना आवश्यक है कि वे मुख्यतः जैनों के २३ वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। बाद जब भगवान् महावीर के दिव्य करकमलों मे जैनधर्म का शासन-सूत्र आया तब वे नियमानुसार उनके उपासक बन गये।

अस्तु, अब पाठक यह भी देख लें कि प्राचीन काल मे विदेह की सीमा क्या थी। १४वीं शताब्दी के 'शक्तिसंगमकल्प' मे विदेह की सीमा गण्डकी नदी के पूर्व बतलाई गई है।[1] सम्राट् अकबर द्वारा महामहोपाध्याय मिथिलेश पं० महेश ठाकुर के दान-पत्र में भी मिथिला की सीमा गंगा से हिमालय तथा कोशी और गण्डकी नदी के बीच बताई गई है।[2] इससे वैशाली के निकटवर्ती उक्त कुण्डलपुर गंगा के उत्तर होना स्वयं सिद्ध है। अब यह भी देख लीजिये कि पूर्व मे मगध की सीमा क्या रही। 'शब्दार्थचिन्तामणि' में लिखा है कि "व्यासेश्वरं समारभ्य तप्तकुण्डान्तकं शिवे। मगधाख्यो महादेशो यात्रायां न हि दुष्यति ॥" भगवान् बुद्ध के समय[3] मगध की सीमा इस प्रकार बतलाई गई है:

मगध के पूर्व मे चम्पानदी थी, दक्षिण मे विन्ध्याचल पहाड़, पश्चिम मे शोणभद्र तथा उत्तर मे गंगा की धारा। एक बार जब भगवान् बुद्ध राजगृह से वैशाली जाने लगे तो बिम्बसार ने[4] राजगृह से गंगातट तक के मार्ग को जो ५ योजन था पांच रंग के फूलों से सुसज्जित करा दिया

१—'गण्डकीतीरमारभ्य चम्पारण्यान्तकं शिवे।
विदेहभूः समाख्याता तीरभुक्ताभिधो मनुः ॥'

२—'अज गंग ता संग अज कोसी ता गोसी।'
[महामहोपाध्याय डा० सर गंगानाथ झा 'अभिनन्दनग्रन्थ' पृष्ठ ३८]

३—डा० जी० पी० मल्लालशेखर-रचित 'ए डिक्सनरी आफ पाली प्रापर नेम्स' भाग २, पृष्ठ. ४०३।

४—'सुमंगलविलासिनी'।

था तथा स्वयं गर्दन भर पानी तक गंगा में जाकर उनको विदा किया था। उनके लौटने पर उसी ठाट से उन्हें वापस ले गये थे।

कुछ पाठकों को यहाँ पर एक बात की शंका हो सकती है कि जैन ग्रन्थों में कहीं-कहीं भगवान् महावीर का जन्म विदेह में लिखा है और कहीं कहीं वैशाली में। इसका उत्तर स्पष्ट है। विदेह भारत का एक विशाल राष्ट्र था और वैशाली उसी के अन्तर्गत था। पूर्व में वैशाली की सीमा उत्तर और पूर्व में विदेह तथा दक्षिण में मगध थी। वैशाली उस समय तीन भागों में[1] बटा था। प्रथम भाग में उत्तम श्रेणी के लोग रहते थे जहां पर ७००० घर थे, जिनके शिखर स्वर्ण के थे। द्वितीय भाग में १४ ०० घर मध्यम श्रेणी के लोगों के थ, जिनके शिखर चान्दी के तथा तृतीय भाग में जघन्य श्रेणी के लोग रहते थे, जिनके २१००० घर थे। इनके शिखर ताम्र के थे। अत ज्ञात होता है कि यह वैशाली उस समय तीन भागों में विभक्त था, जिनके नाम वैशाली (बसाड), कुण्डपुर और वणियग्राम थे।

इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर विद्वान् पुरातत्त्ववेत्ता प० कल्याणविजयजी गणी का अभिप्राय इस प्रकार है

"प्रचलित परम्परानुसार आजकल भगवान् की जन्म भूमि पूर्व बिहार में क्यूल स्टेशन से पश्चिम की ओर आठ कोस पर अवस्थित लच्छु आड गांव माना जाता है। पर हम इसको ठीक नहीं समझते। इसके अनेक कारण हैं—

(१) सूत्रों में महावीर के लिये विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले तीसं वासाइं विदेह सिकट्टु[2] इत्यादि जो वर्णन मिलता है, इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि महावीर विदेह देश में अवतीर्ण हुए और वहीं उनका संवर्धन हुआ था। यद्यपि टीकाकारों ने इन शब्दों का अर्थ और ही तरह से लगाया है, पर शब्दों से प्रथमोपस्थित 'विदेह, वैदेहदत्त, विदेहजात्या, विदेहसुकुमाल, तीस वर्ष विदेह में (पूरे) करके' इन अर्थवाले शब्दों पर विचार करने से यही ध्वनित होता है कि भगवान् महावीर विदेह जाति के लोगों में उत्तम और सुकुमार थे। एक जगह तो महावीर को 'वैशालिक' भी लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि आप का जन्म-स्थान क्षत्रियकुण्डपुर वैशाली का ही एक विभाग रहा होगा।

(२) जब कि भगवान ने राजगृह और वैशाली आदि में बहुत से वर्षा चातुर्मास्य किये थे तब क्षत्रियकुण्डपुर में एक भी वर्षाकाल नहीं बिताया। यदि क्षत्रियकुण्डपुर जहाँ आज माना जाता है वहीं होता तो भगवान के कतिपय वर्षावास भी वहाँ अवश्य ही होते, पर ऐसा नहीं हुआ। वर्षावास तो दूर रहा, दीक्षा लेने के बाद कभी क्षत्रियकुण्डपुर अथवा

१—राकहिल-रचित 'लाइफ आफ बुद्ध' पृष्ठ ६२।

२—सचित्र कल्पसूत्र ११० (१)।

के मानने वालों की हैं, बौद्धों की नहीं। इनमें चरण-पादुकाएँ हैं, कलश है और त्रिशूल हैं। ये ही चिन्ह कटक मे खण्डगिरि पर्वत की हाथी-गुफा के राजा खारवेल के शिलालेख में भी मिले हैं।[१]"

'आरकिऑलाजिकल सर्वे आफ इंडिया' की १९१३-१४ की रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि बसाढ़ मे फिर खुदाई हुई थी, जिसमें बहुत सी मोहरें निकली थीं। इनमें से बहुतसी में लेख भी मौजूद हैं। इन मोहरों में उपलब्ध नामों को जैन पुराणों के नामों से सावधानी से मिलान करने पर बहुतसी नई बातों का पता लग सकता है।

एक जमाने में वैशाली बहुत ही समृद्धशाली था। बल्कि ७ वीं शताब्दी तक वहां पर जैनधर्मावलम्बी प्रचुर संख्या में पाये जाते थे। चीन-यात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्राविवरण में लिखा है कि वैशाली में उन्हें जैनमतानुयायी अधिक संख्या मे मिले थे।

उल्लिखित ये सब प्रमाण बसाढ़ को भगवान् महावीर की जन्मभूमि सिद्ध करने में अवश्य सहायक हैं।

अस्तु, विज्ञ पाठकों के समक्ष सिर्फ विचारार्थ मैंने अपनी एक राय उपस्थित कर दी है। कृपया इसे कोई अन्यथा समझने की चेष्टा नहीं करेंगे। अगर कोई विद्वान् नालन्दा के निकटवर्ती, पटना-जिलान्तर्गत कुण्डलपुर को ही भगवान् महावीर की जन्मभूमि प्रमाणित कर दें तो उसे मै सहर्ष स्वीकार कर लूंगा। सच्चे अन्वेषक का लक्ष्य सदैव सत्य की ही खोज रहता है। आशा है कि अनुसन्धानप्रेमी अन्य जैन व जैनेतर विद्वान् भी इस विषय पर अपना विचार अवश्य प्रकट करेंगे। अन्त में एक अन्वेषक विद्वान् के शब्दों मे 'क्या कोई भक्तवत्सल जैन मुजफ्फरपुर-जिलान्तर्गत उस गाँव (बसाढ़) की खुदाई कराकर भगवान् के जन्मस्थान का ठीक-ठीक पता लगाने का उद्योग करके पुण्य और यश का भागी बनेगा ?'

१—'बंगाल-बिहार-उड़ीसा के प्राचीन जैन स्मारक' पृष्ठ २५।

देवराज द्वारा जैनधर्म की सहायता[1]

[ले० श्रीयुत बनारसीप्रसाद भोजपुरी, सा० रत्न, रचनानिधि]

यदि यह कहा जाय कि विजयनगर के हिन्दू राजाओं ने, हिन्दूधर्म के अनुयायी होते हुए भी, अन्य धर्मों का आदरपूर्वक सम्मान किया है, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं हो सकती। उन्होंने यदि एक तरफ हिन्दूधर्म के अस्तित्व की रक्षा के लिए अपने धन को पानी की तरह बहाया है, तो दूसरी ओर अन्य धर्मों के अस्तित्व की रक्षा के लिए भी उन्होंने अपना परिश्रम और धन खर्च करने में जरा भी आनाकानी नहीं की है। निःसन्देह उन हिन्दूधर्म के कर्णधारों को सभी धर्मों और संस्कृतियों का पोषक और संरक्षक कहना न्यायसंगत होगा। हम उनकी महान् उदारता और धर्मवीरता का बखान किन शब्दों में करें जब हम देखते हैं कि जहां उनका एकमात्र संकल्प और व्रत केवल हिन्दूधर्म की रक्षा और प्रचार करना था, वहाँ उन्होंने अन्य धर्मों की रक्षा और प्रचार करने में भी उसी प्रकार की तत्परता दिखाई। बेशक, उन्होंने हिन्दूधर्म के 'सत्य अहिंसा और प्रेम' के उपदेशों को पूर्णरूप से समझा था।

जैनधर्म को भी उन्होंने पर्याप्त सहायता पहुचायी, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। राजा बुक्कराय प्रथम का प्रभाव उनके उत्तराधिकारियों पर पूर्णरूप से वर्तमान था। यह एक बहुत ही संतोष और आनन्द का विषय है कि सब प्रथम विजयनगर की पटरानियों के मस्तिष्क में ही जैनधर्म का अंकुर पैदा हुआ। देवराय प्रथम की रानी भीमा देवी ने उन्हें जैनधर्म की ओर प्रवृत्त किया। उनके धर्मगुरु पंडिताचार्य थे। भीमादेवी के प्रयत्न से करीब १४१० (ए० डी०) में श्रवणबेल्गोल के मंगाइ बसदि में शांतिनाथ स्वामी की प्रतिमा की स्थापना की गयी थी। उपर्युक्त बसदि का निर्माण करीब १३२५ (ए० डी०) में बेल्गोल के मंगाइ के द्वारा हुआ था।

भीमादेवी के प्रभाव से देवराय प्रथम की उत्तरोत्तर जैन मुनियों के प्रति श्रद्धा बढ़ने लगी। उन्होंने जैन मुनियों के प्रचार कार्य में पूरी सहायता पहुँचायी। शिलालेख से पता चलता है कि विख्यात वक्ता वर्धमान मुनि के प्रधान शिष्य धर्मभूषण गुरु की विजयनगर के राजा देवराय प्रथम ने पूरी प्रतिष्ठा और सहायता की थी। उन्होंने जैनों के विख्यात केन्द्र श्रवणबेल्गोल से पूरा संपर्क स्थापित किया था। करीब १४२० (ए० डी०) में उन्होंने गौतमस्वामी के अर्चनार्थ, वृत्ति के निमित्त, मेपिनाड में बेनमे नामक गाँव दान में दिया था। राजकुमार हरिहर ने भी अपने पूज्य पिता का सच्चा अनुकरण किया। उन्होंने कनकगिरि की बसदि के लिए बहुमूल्य और अनुकरणीय दान दिया।

---

१ श्रीयुत बी० ए० सालेतोर की Mediaeval Jainism के एक प्रकरण के आधार पर।

विजयनगर के राजा देवराय द्वितीय ने भी जैनधर्म को पूरी सहायता पहुँचायी। इन्होंने १४१९ (ए० डी०) से १४४६ (ए० डी०) तक शासन किया। १४२४ (ए० डी०) के करीब इन्होंने तुलु देश के वरंग नामक गाँव को वहाँ के नेमिनाथ की वसदि के लिए दान में दिया।

कृष्णदेव राय के बारे में यह कहना अनुचित न होगा कि उन्होंने अपने राज्य के भिन्न संप्रदायों को एक नजर से बराबर देखा। उनकी सहृदयता और सच्ची शालीनता का इससे बढ़कर ज्वलंत उदाहरण क्या मिल सकता है कि उन्होंने अपने साम्राज्य से परे दो दूर प्रांतों में जैन मंदिरों के लिए दान दिया था। इसके अलावा उन्होंने चिंगलेपट जिलान्तर्गत कंजीवरम् तालुका स्थित तिरुपरुत्तिकुणरु की त्रैलोक्यनाथ वसदि के लिए दान स्वरूप दो गाँव दिये थे। ये घटनाएँ १५१६ (ए० डी०) और १५१९ (ए० डी०) के बीच की हैं। उन्हीं दानवीर राजा ने १५२८ (ए० डी०) में चिप्पागिरि (अलूरु तालुक) की वसदि के लिए भी दान दिया था।

विजयनगर के राजाओं में देवराय का नाम जैन-वसदि-निर्माण-कार्य में सर्वप्रथम लिया जा सकता है। इन्होंने जैन-वसदि-निर्माण-कार्य के अलावा सभी धर्मों में पारस्परिक सद्भावना कायम रखने की पूरी चेष्टा की थी। ये इस्लाम-धर्म की प्रतिष्ठा करने के लिए कुरान शरीफ को अपनी बगल में रखते थे। इन्हीं की उदारता का फल था कि राजधानी में पार्श्वनाथ-वसदि का निर्माण हो सका।

जैनधर्म के इतिहास में जेनरल इरुगप्प का नाम भी एक विशिष्ट स्थान रखता है। वे अपने काल के एक विख्यात जैन जेनरल थे। उन्होंने जैनधर्म के प्रचार के लिए चिरस्मरणीय कार्य किया है। शिलालेख में उनकी वीरता का बखान करते हुए कहा गया है कि जेनरल राजकुमार इरुगप्प जिस समय युद्ध भूमि के लिए प्रस्थान करते थे उस समय उनकी अश्वारोही सेना की घुड़दौड़ से आकाश धूलाच्छादित हो जाता था, और सूर्यदेव को अपनी रश्मियाँ छिपा लेनी पड़ती थीं। बात की बात में उनकी सेना शत्रुओं के समीप पहुँच जाती थी, जिससे शत्रुओं का हाथ बँध जाता था। एक ओर यदि उनकी वीरता चढ़ी-बढ़ी थी, तो दूसरी ओर उनकी धार्मिकता भी अपना सानी नहीं रखती। वे जैनधर्म के पक्के अनुयायी थे। उन्होंने १३८२ (ए० डी०) में तिरुपरुत्तिकुणरु की त्रैलोक्यनाथ-वसदि के लिए भूमि-दान किया था। उस वक्त विजयनगर के राजा हरिहर राय द्वितीय थे। जेनरल इरुगप्प के गुरु पुष्पसेन थे।

हरिहरराय द्वितीय के समय जेनरल इरुगप्प मंत्री के पद पर आसीन थे। उन्होंने राजधानी में कुन्थु जिननाथ का चैत्यालय बनवाया था। इसका निर्माण-कार्य १६ फरवरी १३८६ (ए० डी०) को समाप्त हुआ था। आजकल भूल से लोग इसे गाणगित्ति मंदिर के नाम से पुकारा करते हैं। इस शिलालेख में जिन जैन-गुरु सिंहनंदी का नाम अंकित है, वह

वही सिंहनदी आचार्य हैं, जिनका उल्लेख श्रवणबेलगोल में प्राप्त करीब १४०० (ए० डी०) के कागज पत्रों में मिलता है।

इरुगप्प सिर्फ कुशल राजनीतिज्ञ ही नहीं थे, बल्कि एक योग्य इञ्जिनर भी थे। १३९४ (ए० डी०) में उन्होंने कुणिगल के तालाब से नहर निकाली थी। उक्त नहर पर प्राप्त शिलालेख से पता चलता है कि इरुगप्प संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे और उन्होंने संस्कृत में 'नानार्थरत्नाकर' नामक कोष लिखा था। उन्होंने १४०३ (ए० डी०) में हरिहरराय द्वितीय के शासन काल में मन्त्रिपद को योग्यता के साथ निभाया और ऊँचे राजपद पर राजा देवराय द्वितीय के शासन काल तक बने रहे। १४२२ (ए० डी०) के करीब श्रवणबेलगोल के शिलालेख से पता चलता है कि जनरल इरुगप्प ने जैन गुरु श्रुतमुनि के सम्मुख बेलगोल नामक ग्राम को गुम्मटेश्वर की पूजा के लिए दान में दिया था। १४४२ (ए० डी०) के करीब प्राप्त शिलालेख से इस बात की पूरी पुष्टि हो जाती है कि इरुगप्प देवराय द्वितीय के शासन काल में एक ऊँचे सरकारी पद पर वर्तमान थे। उसमें लिखा है कि जैन कमांडर इरुगप्प गोवा और चन्द्रगुट्टि के वायसराय के पद पर विराजमान थे। तात्पर्य यह कि उन्होंने करीब ५९ वर्षों तक (१३८३ ए० डी से १४४२ ए० डी० तक) विजयनगर की सरकार के ऊँचे सरकारी पदों को योग्यता पूर्वक निबाहा। वे उतने समय तक जैनधर्म की उन्नति के लिए बराबर तत्परता से कार्य करते रहे और हर तरह की सरकारी सहायता पहुँचाते रहे।

इरुगप्प के भाई जेनरल बैचप्प ने भी जैनधर्म की पूरी सहायता की थी। यहीं तक नहीं, बल्कि इरुगप्प के अन्य साथियों ने भी जैनधर्म की पूरी सहायता की और इसके प्रचार में काफी तत्परता और सफलता प्रकट की।

इरुगप्प के वक्त में एक और मशहूर राज अधिकारी ने जैनधर्म की पूरी सहायता की थी। उनका नाम महाप्रधान गोप चमूपति था। उनकी वीरता और कार्य-क्षमता की ए० डी० १४०८ के शिलालेखों में पूरा जिक्र मिलता है। ये पक्के जैनी थे। जैनधर्म के प्रति उनकी श्रद्धा और प्रेम सराहनीय है। इन्हीं की तरह दो और राज आफिसरों ने जैनधर्म को पूरी सहायता पहुँचायी थी, जिनमें एक का नाम था मसनहल्लि कम्पन्न गौड़। इन्होंने १४२४ (ए० डी०) में बेलगोल के गुम्मट स्वामी के पूजार्थ तीन हल्लि नामक ग्राम दान में दिया था। दूसरे का नाम वल्लभ राजदेव महाअरसु था। ये महामण्डलेश्वर भूपति राजा के पोता थे। इन्होंने भी जैनधर्म को हर तरह की सहायता पहुँचायी थी। इस प्रकार जब हम विजयनगर राज का इतिहास देखते हैं, तो हमें कहना पड़ता है कि वहाँ के राजाओं में जैसी स्वधर्म के लिए सच्ची कट्टरता थी, उसी प्रकार अन्य धर्मों के लिए महान् उदारता भी थी। खास कर जैनधर्म का तो उनके द्वारा पर्याप्त प्रचार हुआ है जिसके लिए जैन-समाज उन दूरदर्शी, योग्य और उदार राजाओं का चिर आभारी रहेगा।

उपाध्याय मेघविजय के दो नवीन ग्रन्थ

[ले० श्रीयुत अगरचन्द, नाहटा]

भारतीय प्राचीन जैन ज्ञानभंडारों में यद्यपि जैसलमेर, पाटण, खंभात आदि स्थानोंके ज्ञानभंडार विशेष प्रसिद्ध है ! पर हस्तलिखित प्रतियों की संख्या के लिहाज से मेरे खयाल से बीकानेर जैसा गौरव किसी भी स्थान को प्राप्त नहीं है। यहाँ के विविध संग्रहालयों में करीब ४०-५० हजार हस्तलिखित प्रतिया हैं जिनमें सैकडों जैन एवं जैनेतर ग्रन्थरत्न ऐसे भी है जिनकी प्रतियाँ अन्यत्र कहीं भी प्राप्त-ज्ञात नहीं है। प्रस्तुत लेख में ऐसे ही दो अन्यत्र अप्राप्य ग्रन्थरत्नों का परिचय प्रकाशित किया जा रहा है।

अट्ठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तपागच्छ के तीन महाविद्वानों का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, वे है—१ उ० विनयविजय २ उ० यशोविजय और उ० मेघविजय। इनमें प्रथम सिद्धान्तशास्त्र, दूसरे न्यायशास्त्र और तीसरे काव्यशास्त्र के पारंगत रूप से प्रसिद्ध है। इनमें प्रथम का स्वर्ग स० १७३८ द्वितीय का सं १७४५ और तृतीय का ग्रन्थ-रचना-काल सं० १७२७ से १७६० तक हैं। उपाध्याय मेघविजय विविध विषयों के मर्मज्ञ थे। उन्होंने काव्य में पादपूर्त्ति+ की जो चमत्कृति दिखाई है वह अपूर्व है—माघ की पादपूर्ति रूप में देवानंदाभ्युदय, मेघदूत की पादपूर्ति में मेघदूतसमस्यालेख, नैषध की पादपूर्ति में शातिनाथचरित्र बनाया एवं दिग्विजय महाकाव्य तथा सर्वोच्च सप्तसंधान-काव्य रच कर अपनी अपूर्व विद्वत्प्रतिभा का विश्व को अनोखा परिचय दिया। आपने लोकसाहित्य में पंचाख्यान, कथासाहित्य में लघु त्रिषष्ठिचरित्र, व्याकरण में चन्द्रप्रभा, ज्योतिष में उदयदीपिका, वर्षप्रबोध (मेघमहोदय), रमलशास्त्र, सामुद्रिक में हस्तसंजीवन, मत्र पर वीसायंत्रविधि, आध्यात्म में मातृप्रसाद, खंडन में युक्तिप्रबोध और धर्ममजूषा इत्यादि अनेक ग्रन्थ रचे है। प्राकृत, सस्कृत एव लोकभाषा इन तीनों में आप की रचनाएँ प्राप्त है। जिससे विविध भाषाओं एवं विषयों पर आपका प्रभुत्व प्रतीत होता है। आप की दो नवीन रचनायें हमारी खोज से बीकानेर के जैन भंडारों में प्राप्त हुई है जिनका परिचय कराना ही इस लेख का उद्देश्य है। इनमें से प्रथम ग्रन्थ व्याकरण विषयक है और इसकी प्रति हमारे संग्रहालय में सुरक्षित है। दूसरा ग्रन्थ न्याय पर है और उसकी प्रति स्थानीय बृहत् ज्ञानभाडार के अंतर्वर्ती भुवनभक्तिभांडार में है। इन ग्रन्थो का विशेष परिचय इस प्रकार है :—

+ देखें, मेरा लेख 'जैनपादपूर्ति साहित्य'—जैन-सिद्धान्त-भास्कर भा० ३, किरण २-३।

१ शब्दचंद्रिका —इस ग्रन्थ के तीन प्रकाश हैं और २४ पत्र की प्रति हमारे समक्ष में है। खेद है कि प्रति के ऊपर के किनारे के भाग में किसी जन्तु के गोन्द आदि देने के कारण उस स्थान का पाठ सब पत्रों में खण्डित हो गया है। प्रतिलिपि सुन्दर है। पर अक्षर जैनतर प्रतीत होते हैं। प्रति संवत् १७८१ की लिखी हुई है अर्थात् ग्रंथकार के समय की ही है। ग्रन्थ में रचना संवत् नहीं दिया गया है। पर सं० १७६१ में प्रति लिखी हुई है। अत इससे पूर्व का ही निश्चित होता है। प्रति का प्रथम पृष्ठ एवं अंतिम पृष्ठ का चौथा भाग रिक्त है। अवशेष पत्रों के प्रत्येक पृष्ठ में पंक्ति १०, व प्रतिपंक्ति वर्ण ४५ करीब है।

आदि —॥ ॥ ६० ॐ शखेश्वरपार्श्वं, ह्रा नत्वा बालाय ।

(है) मचद्रस्य, चंद्रिकासौ निरूप्यते ॥

अर्हं पद सदा ध्येय कन्यार्थसिद्धये सता (सदा)

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः क ख इत्यादि—

प्रथम प्रकाश के अंत में —पत्रांक १२ A

श्रीविजयप्रभसूरे प्रेष्य शिष्य कृपादिविजयकवे ।

श्रीमेघविजयवाचकवरोऽम्यधाच्चंद्रिकास्यादौ ।

इतिशब्दचंद्रिकायां प्रथमप्रकाश

(पत्रांक A में भी हीरविजयसूरि, विजयसेन, विजयदेव, विजयप्रभसूरि का नाम आता है)

द्वितीय प्रकाश के प्रारंभ में—

श्रीनाभिभू सरस्वत्यां, शिष्या दध्या रमदधत् ।

शुभमंगलान्वित शब्द सृष्टे धातुर्नयविधे क्रियार्थो धातुस्त्यादि ॥

× × ×

अंत —उपरोक्त श्लोक के बाद —

इति श्रीसिद्धहेमचन्द्रव्याकरणस्य शब्दचंद्रिकायां द्वितीयप्रकाश ।

तीसरे प्रकाश का प्रारंभ पत्रांक २१ B

आदि —श्रीपार्श्वो जयतु श्रीऋषभनाथ शिवऽस्तु ।

आनुमोऽत्यादि कृत्स्नद्यमान प्रत्यय ।

× × ×

अंत —उपर्युक्त श्लोक के पश्चात् —श्रीदापा, गम्भामाता कूले येषेन्नर्मदा ।

एवं गारपाश्रुशुभा या रूपश्रीरस्तु नर्मदा ।।

स·········मेघाभ्युदयनंदिनी ।
सौरप्रभावादालोकं चंद्रिका जयताच्चिरं ।
शाविबुधैः पीयमानासौ नयनानंददा··· ······
··· ·······गर सोल्लासात् पुष्णातु विजयश्रियं ।४

इति श्रीशब्दचंद्रिकाया तृतीयः प्रकाशस्तत्पूर्तौ ग्रथोपि संपूर्णश्रियमशिश्रेयत् ॥शुभम् सवत् १७६१॥

२ मणिपरीक्षा :—प्रस्तुत ग्रन्थ में ४ विमर्श हैं और प्रसिद्ध नैयायिक गंगेश उपाध्याय के चिन्तामणि ग्रन्थपर इसमें आलोचना है। प्रति ८ पत्र की है। प्रत्येक पृष्ट में पक्तियाँ २१ से २४ व प्रतिपंक्ति अक्षर ५० के करीब है। प्रथम पृष्ट रिक्त एव अंतिन पत्र में केवल ३ ही पंक्तियाँ लिखी हुई है। कहीं कहीं किनारों पर टिप्पणी भी लिखी हुई है। प्रति में लेखन एवं रचना-समय नहीं हैं। ग्रन्थ का विशेष विवरण इस प्रकार है :—

आदिः—तर्कश्चिंतामणौ कार्यः स्मृत्वा स्याद्वादिनं जिनं ।
विशिष्य शिस्यबोधाय धार्यश्चात्रोपदिश्यते ॥१॥

तत्राप्यादावनुमानपरिच्छेदव्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानमनुमितिः तत्करण-मनुमानमिति प्रथमतो लक्षणं तस्यार्थः। इत्यादि

द्वितीय विमर्श के प्रारंभ में :—
अथ न्यायांगमुख्यत्वात् व्याप्तैः किंचिद्विचार्यनो ।
चिंतामणौ श्रीगंगेशोपाध्यायोक्तेऽस्य सन्निवेः ।१।

तृतीय विमर्श प्रारंभ :—अथ उपाधिसाधितविमर्शः। इत्यादि

चतुर्थ विमर्श प्रारंभ :—अथ एवं भावत्वव्यावृत्याध्वंसे जन्यत्वानित्यत्वयोः
संबंधो निवर्त्तमानः पक्षधर्मताबला × पक्षधर्मतापि विमृश्यते × इत्यादि

अंतः—मणेः परीक्षा मणिकर्णिकेव पूर्णारसैः स्वारसिकैर्मुदेव ।
गंगेश्वरश्रीगृहसंनिधाना, ध्यानोऽवधार्या शिवपूर्वतुर्या ।१।
भानुदयसदाध्याय बुद्ध्यायश्चाप्लवं सृजेत् ।
अस्यामश्याय धीरर्हस्तुष्टस्तस्येह सुश्रिये ।२।
श्रीविजयप्रभसूरेस्तपागणेशस्य सेवको मेघः ।
सम्यक्त्वशुद्धिसिद्धैः कृतवानेतां मणिपरीक्षां ।३।
इति श्रीमणिपरीक्षाया चतुर्थो विमर्शः ॥

उक्त दोनों प्रतियो के उदाहरण अक्षम्य अशुद्धियों से भरे पड़े हैं। सं०

जिनकल्प और स्थविरकल्प पर श्वे० साधु श्री कल्याणविजयजी

[ले० श्रीयुत कामताप्रसाद जैन डी एल, एम आर ए. एस]

मैंने पहले पहल श्वेताम्बर साधु स्व० श्री विजयधर्म सूरिजी को देखा था। वह अलीगंज होकर निकले थे। उनकी विद्वत्ता और निर्भीक चर्या का प्रभाव मेरे मन पर पड़ा था। उपरान्त साहित्यिक प्रसंग में श्वेताम्बर साधुगण श्री विद्याविजयजी, स्व० श्री हिमांशु विजयजी, वयोवृद्ध चौथमलजी प्रभृति से भी मेरा परिचय हुआ। मुझे श्वेताम्बर यतिवर्ग पर गर्व था, वह निस्सन्देह उपर्युल्लिखित विद्वज्जनों से समलंकृत है। किन्तु इसके साथ ही श्री 'जैन सत्यप्रकाश' में प्रकाशित कतिपय श्वेताम्बर साधुओं के लेखों की विचारसरणी से मुझे अनुभव हुआ कि सब ही चमकनेवाली चीज सोना नहीं होती। श्वेताम्बरीय यतिसमुदाय में साम्प्रदायिकता के पोषक कतिपय पक्षपाती साधुओं के करतब अचम्भे में डालनेवाले हैं— सम्प्रदायवाद के पोषण में वह शायद अपने सत्यमहाव्रत की रक्षा करना आवश्यक नहीं समझते। यही कारण है कि 'हिमवन्त थेरावली' जैसी जाली और कल्पित पट्टावलियां एवं झूठे फरमान यह लोग उपस्थित कर सके हैं।[1] इसी 'हिमवन्त थेरावली' के आधार पर एक समय श्री कल्याणविजयजी ने सम्राट् खारवेल को श्वेताम्बर सिद्ध करने का असफल उद्योग किया था, परन्तु श्री जिनविजयजी ने उस 'थेरावली' को ही झूठा सिद्ध किया जिस पर श्री कल्याणविजयजी ने वह लेख लिखा था।[2] इन्हीं श्री कल्याणविजयजी ने एक पुस्तक "श्रमण भगवान् महावीर" नामक लिखी है जो श्री क० वि० शास्त्रसंग्रह समिति जालोर द्वारा सवत् १९९८ में प्रकाशित की गई है। इस पुस्तक के अन्तिम भाग में विद्वान् लेखक ने 'जिनकल्प' और 'स्थविरकल्प' पर विवेचना करते हुये दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति पर अद्भुत प्रकाश डाला है, जिसका न कोई सिर है और न पैर।[3] पहले ही आपने दोनों

---

१ 'अनेकान्त' वर्ष १ पृ० ३११-३१२ में 'हिमवन्तथेरावली' को जाली प्रकट किया गया है। श्री सम्मेदशिखरजी के मुकदमे में ऐसे फरमान पेश किये गये जो जाली थे। उनके विषय में माननीय जज ने अपने फैसले में लिखा था —

'They (Firmans) will appear to be matlabi on the face of them and to have been got up for the purpose of disputes

—Parasnath Hill Judgment p 32

२ "अनेकान्त" की प्रथम वर्ष की फाइल देखो।

३ सप्तम परिच्छेद, पृ० २८९-३१०

'कल्पो' का स्वरूप दिगम्बर और श्वेताम्बर मतानुसार इस ढंग से लिखा है कि दोनों में बजाहिर कुछ अन्तर ही नहीं दिखता। अत सब से पहले हम इस पर ही विवेचन करेंगे।

दिगम्बरमत : दिगम्बर सम्प्रदाय के प्राचीनतम उल्लेख से स्पष्ट है कि उसके निकट साधुवेष दिगम्बरत्व में निहित रहा है। बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित साधु ही निर्ग्रन्थ हो सकता है।[१] तिलतुषमात्र परिग्रहरहित यतिवेष ही प्रशंसनीय और मोक्ष का साधन है। जिनेन्द्र ने इसी का उपदेश दिया है। प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ द्वारा उपदिष्ट इस यतिधर्म को माननेवाले ही निर्ग्रन्थ साधु हैं।[२] अन्य लोग जो वस्त्रादि धारण करते हैं, वह भ्रष्टाचारी हैं।[३] यथाजातरूप निष्परिग्रही निर्ग्रन्थ ही पूज्य हैं—यही जिनलिङ्ग हैं! इस जिनलिङ्ग के चार चिन्हों में सर्वप्रथम आचेलक्य (नग्नत्व) है, जिसमे साधु को वस्त्रादि सब ही परिग्रह का त्याग कर देना होता है।[४] उसके साथ केशलुञ्चन, शरीरव्युत्सर्ग (शरीर से अममत्वभाव) और प्रतिलेखन भी निर्ग्रन्थलिङ्ग के चिन्ह हैं। प्रतिलेखन से मात्र जीव-दया के उपकरण मयूरपिच्छिका है। इस जिनलिङ्ग को वे ही महाभाग धारण करते हैं जो श्री जिनेन्द्र के समान होना चाहते हैं—निर्ग्रन्थ रूप जिनेन्द्र का प्रतिबिम्ब ही है।[५]

---

१ 'जधजाद रूवजादं उप्पाडिदकेसमं सुगं सुद्धं। रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥५॥
मुच्छारंभविमुक्कं जुत्तं उवजोग जोग सुद्धीहिं। लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारण जेण्हं ॥६॥
प्रवचनसार अ० ३

२ 'ततः सद्ग्रन्थयत्यक्तं जिनलिङ्गं प्रशस्यते। ससम्यक्त्वस्य जीवस्य मोक्षसौख्यस्य साधनम्।'
भद्रबाहुचरित्रः।

'णिग्गंथो जिणवसहो णिग्गंथं पवयणं कयं तेण।
तस्साणुमग्गलग्गा सव्वे णिग्गंथमहरिसिणो ॥१३४॥'—भावसंग्रहः।

३ 'जे पुण भूसियगंथा दूसियणिग्गंथलिंग वयभट्टा।'—भावसंग्रहः।

४ 'आचेलक्कं लोचो, वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो, चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥८२॥'—भगवती आराधना।

× × × ×

'आचेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विधो होदि णादव्वो ॥९०८॥'—मूलाचार।

× × × ×

'चेलादिसव्व संगचाओ पढमो हु होदि ठिदिकप्पो।
इह पर लोइयदोसे, सव्वे आवहदि संगोहु ॥२२॥'—भगवती आराधना।

५ 'जियपडिरूवं विरियायारो, रागादिदोस परिहरणं।
इच्चेवमादिबहुगा, आचेलक्के गुणा होंति ॥८७॥'—भगवती आराधना।

इस निर्ग्रन्थलिङ्ग के दो भेद शास्त्रोंमें बताये गये हैं, (१) जिनकल्प और (२) स्थविरकल्प[1]। यह भेद मुनिजनों के संहनन, चारित्र और ज्ञान के विशेषत्व की अपेक्षा ही कहे जा सकते हैं, वरन् हैं दोनों एक ही चीज! जिस प्रकार सामान्यकेवली और विशेषकेवली में केवलज्ञान की अपेक्षा कोई भी भेद नहीं है—दोनों ही त्रिकालज्ञ त्रिलोकदर्शी हैं, उसी प्रकार जिनकल्पी और स्थविरकल्पी मुनि धर्म की अपेक्षा से अभिन्न हैं। उपर्युल्लिखित मुनिलिङ्ग के चार चिन्हों में जिनमें आचेलक्य (दिगम्बरत्व) सर्वप्रथम है, दोनों ही प्रकार के मुनिजन समलङ्कृत रहते हैं।

जिनकल्पी मुनि की विशेषता साधारण मुनि जो स्थविरकल्पी कहे गये हैं उनसे निम्नलिखित विशेषताओं के कारण है[2] "ऐसे मुनिराज सम्यक्त्वरत्न से विभूषित अर्थात् भावलिङ्गी होते हैं—अपनी इन्द्रियों को वह पूरी तरह वश में किये होते हैं। उनका ज्ञान इतना विशाल होता है कि एकाक्षर के समान एकादशाङ्ग शास्त्र के ज्ञाता होते हैं। उनकी सहनशीलता चरमसीमा की होती है—कदाचित् उनके पांव में कांटा लग जावे अथवा आंखों में रजकण गिर जावे तो उन न वे स्वयं निकालते हैं और न दूसरों से कहते हैं कि तुम निकाल दो। वह निरन्तर मौन सहित रहते हैं। वह उत्तम—वज्रवृषभनाराचसंहनन के धारक होते हैं। गिरि गुहाओं वन कन्दराओं आदि निर्जन स्थानों में रहते हैं। वर्षाकाल में जब मार्ग जीवों से पूर्ण हो जाते हैं तो वह छह मास पर्यन्त निराहार रहकर कायोत्सर्ग धारण करते हैं। सर्वपरिग्रह रहित और रत्नत्रय से भूषित वे मोक्ष की साधना में लीन रहते हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान में ही वे सदा निरत रहते हैं। उनके रहने के स्थान का कोई पता नहीं होता और वे जिन भगवान् के समान एकाकी विहार करनेवाले होते हैं।"[3]

१ दुविहो णिग्गंथिं कहिओ जिणकप्पो तह य थविरकप्पो य।
सो जिणकप्पो उत्तो उत्तम सहयणा धारिस्स ॥११८॥'—भावसंग्रह

× × × ×

२ "सो जिणकप्पो उत्तो उत्तमसहयणधारिस्स ॥
जत्थ य कंटयभग्गो पाए णयणम्मि रयपविट्ठम्मि।
फेडंति सय मुणिणो परावहारे य तुण्हिक्का ॥१२०॥
जलवरिसणवाए गमणं भग्गं य जम्म छम्मास।
अच्छंति णिराहारा काओ सग्गेण छम्मास ॥१२१॥
एयारसंगधारी एयाई धम्मसुक्कझाणी य।
चत्तासेस कसाया मोणवई कंदरावासी ॥१२२॥
बहिरंतर गंथ चुआ णिण्णेहा णिप्पिहा य जइवइणो।
जिण इव विहरंति सया ते जिणकप्पे ठिया सवणा ॥१२३॥"—भावसंग्रह

३ 'भद्रबाहुचरित्र' परिच्छेद ४ श्लोक १०४—११०

ये विशेषतायें ही उन्हें जिन भगवान् के सदृश चर्यायुक्त होने के कारण जिनकल्पी ठहरातीं हैं। श्री अपराजित सूरि ने संक्षेप में यही कहा है कि जो मुनि राग, द्वेष और मोह को जीतनेवाले हैं—उपसर्ग-परीषहों को समभाव से सहते हैं और जिनेन्द्र के समान विहार करते हैं वह जिनकल्पी हैं।[1]

स्थविरकल्पी मुनि जिनसंघ में रहने वाले सामान्य निर्ग्रन्थ साधुओं का द्योतक हैं। शास्त्रों में इनका वर्णन यूँ मिलता है :[2] "जिनलिङ्ग के धारक अट्ठाईस मूलगुणों से युक्त और सम्यक्त्वरत्न से समलङ्कृत साधु स्थविरकल्पी निर्ग्रन्थ हैं। उनका अधिकांश समय ध्यान अध्ययन में व्यतीत होता है। पञ्चाचार का वे पालन करते हैं, उत्तम, क्षमादि दशधर्म से

---

१ 'जितरागद्वेषमोहा उपसर्गपरीषहारि वेग सहा. जिनाइव विहरन्ति इति जिनकल्पिका.।

—विजयोदयाटीका, ३।१५५

यह उल्लेख हमें श्रीयुत पं० परमानन्द जी से प्राप्त हुआ है। इसके लिए हम उनका आभार मानते हैं। हमारे संग्रह की एक हस्तलिखित पोथी में 'सिद्धान्तशिरोमणि' नामक रचना है। उसमें कतिपय गाथाओं को उद्धृत करके निम्न प्रकार वर्णन लिखा है :—

"भूमि सयनं लुंचो वे बे मासेहि असहनिजासो (?), बावीस परीसा सहियं असहि जाणेनिचंपी ॥४४॥
निग्गथ पवयनं जिनवरनाहेन अखियं परमं, ततम्हि उनआनं पंच मानो नमिछन्नं (?) ॥४५॥
बहिरंतरगं गंथ चूया निनेहा निप्पयजय वयने; जिनइवा विहरंति सय ते जिनकप्पो ठिया सवना॥४६॥
थिवर कप्पो विकहाउ, अनगारा तं जिनेमनिए, सो पंचय चेलय चाउ आकिंचनत्तचपडिलहनं ॥४७॥
(चौपई) बाहिर अंतर परिग्रह छोडि; मौन रहे निःसनेही जोर।
पंच चेल तजि जिनवर जिसो, जिनकल्पी मुनि कहिये इसो ॥४८॥", इत्यादि।

२ "थविर कप्पो वि कहिओ अणयाराणं जिणेण सो एसो।
पंचचेल चाओ अकिंचणत्तं च पडिलिहणं ॥१२४॥
पंच महव्वय धरणं ठिदिभोयण एयभत्त करपत्तो।
भत्तिभरेण य दत्तं काले य अजायणे भिक्खं ॥१२५॥
दुविहतवे उज्जमणं छव्विह आवासएहि अणवरयं।
खिदिसयणं सिरलोओ जिणवर पडिरूवपडिगहणं ॥१२६॥
संहणणस्स गुणेण य दुस्समकालस्स तव पहावेण।
पुरणयर गाम वासी थविरे कप्पे ठिया जाया ॥१२७॥
उवयरणं तं गहियं जेण ण भंगो हवेइ चरियस्स।
गहियं पुत्थयदाणं जोग्ग जस्स तं तेण ॥१२८॥
समुदाएण विहारो धम्मस्स पहावणं ससत्तीए।
भवियाण धम्मसवणं सिस्साण य पालणं गहणं ॥१२९॥
संहणणं अइणिचं कालो सो दुस्समो मणो चवलो।
तह वि हु धीरा पुरिसा महव्वयभर धरणउच्छहिया ॥१३०॥—भावसंग्रह।

सदा विभूषित रहते हैं। बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से विरक्त होते हैं। खड़े खड़े विधि से दिन में एक दफा करपात्र पर भोजन करते हैं। मणि-तृण, नगर वन शत्रु मित्र सुख दुःख, सब में समभावी होते हैं। मोह मान आदि से उन्मत्त नहीं होते। धर्मोपदेश के समय बोलते हैं—शेष समय मौन रहते हैं। सुन्दर मोर पिच्छिका प्रतिलेखन (शोधन) के लिये धारण करते हैं। ये संघ के साथ साथ विहार करते हैं। धर्मप्रभावना करने में निरत रहते हैं और अपने शिष्यों का संरक्षण करते हैं। वृद्ध साधुसमूह की वैयावृत्ति करने में सावधान रहते हैं। इसीलिये महर्षिगण उनको स्थविरकल्पी कहते हैं।"[1] पूर्वोक्त 'सिद्धान्तशिरोमणि' में इनके विषय में उल्लेख है कि —

> "थिवरकल्पी गुरु सौं कहैं वाणि। नीरस भोजन लेंय सकति परिमाण॥
> आकिंचन पंच चेला तजै। तासौं थिविरकल्पी कहि यजै॥४६॥"

सारांश यह कि सब प्रकार के हीन संहननवाले मुमुक्षु जिनलिङ्ग को धारण कर के मुनिसंघ में रहकर आत्मकल्याण करते हैं, वे मुनिजन स्थविरकल्पी कहलाते हैं। यही दो प्रकार का मुनिकल्प जिनेन्द्र ने कहा है। शेष समय (सवस्त्र) कल्प मात्र पाखंड है।[2]

श्वेताम्बर मत साधु का वेष क्या होना चाहिये अथवा मुक्ति किस लिङ्ग से प्राप्त की जा सकती है? इस प्रश्न के उत्तर में श्वेताम्बरों की प्राचीन मान्यता दि० जैनों से प्राय अभिन्न है। श्वेताम्बरीय 'आचाराङ्गसूत्र' में भिक्षु के लिये परमधर्म आचेलक्य ही बतलाया है अर्थात् साधु को दिगम्बर वेष धारण करना चाहिये।[3] प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव ने इसी धर्म का प्रतिपादन किया और अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर ने भी उसी को धारण किया।[4] भ० महावीर के शिष्य जो साधु हुये उन्हें नग्नवेष धारण करना पड़ता था। राजा उदयन, ऋषभदत्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।[5] भ० महावीर ने स्पष्ट कहा था कि निर्ग्रन्थ श्रमण को नग्नभाव, मुंडभाव, अस्नान, छत्र नहीं करना, पगरखी नहीं पहनना, भूमिशय्या, केशलोच, ब्रह्मचर्यपालन, अन्य के गृह में भिक्षार्थ जाना और आहार की वृत्ति का पालन करना

---

१ भद्रबाहुचरित्र, प० ४ श्लोक १११ १२०

२ एक दुविहो कप्पो परमजिणिंदेहिं अक्खिओ पुव्वं।
  अवसेसो पासंडिकप्पो णिद्दप्पो गयपरिकलिओ ॥१३२॥—भावसंग्रह

३ 'जे अचेले परिवुसिए तस्सणं भिक्खुस्सणो एव ।' १५१—आचाराङ्ग; 'तं वोसज्ज वत्थ मणगारे।'—२१० आचाराङ्ग, प्रो० जैकोबी ने 'अचेल' शब्द का अर्थ नग्नता (nudity) किया है (Jaina Sutras SBE I p 56) श्वे० 'प्रवचनसारोद्धार' (भा० ३ पृ० १४) से भी यही प्रकट है।

४ कल्पसूत्र (जैनसूत्र) S B E. भा० १ पृ० ०८५

५ ऋषभदत्त के विषय में कहा गया है कि जिस प्रयोजन के लिये उन्होंने नग्नता धारण की थी, उस अर्थ—निर्वाण को प्राप्त किया ("जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावो जाव तमट्ठं आराहेइ।" भगवतीसूत्र, शतक ९ उद्देशक ३३ उदयन कथा में यही बात उदयन के विषय में कही गई है।

अनिवार्य है।[1] आगामी तीर्थङ्कर महापद्म भी ऐसा ही उपदेश देंगे। उन्होंने अचेलक (दिगम्बर) निग्रन्थ मुनियों को सचेल (सवस्त्र) आर्यिकाओं से अलग रहने के लिये सावधान भी किया था।[2] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि श्वेताम्बरीय मान्यता भी प्राचीन निर्ग्रन्थलिङ्ग अचेलक (दिगम्बर) ही प्रकट करती है। सवस्त्र साधुत्व बाद की सूफ है और साधुओं द्वारा कल्पित है। श्री कल्याणविजय जी ने इस विषय पर श्वेताम्बरीय मत का उल्लेख निम्न-लिखित शब्दों में किया है :—

"श्वेताम्बर जैनो के निर्युक्ति और भाष्यादि आगम ग्रन्थों में जिनकल्प की व्याख्या करते हुये उसकी योग्यता के विषय मे लिखा गया है कि वज्रऋषभनाराचसंहननवाला और साढ़े नव पूर्व के ऊपर तथा दश पूर्व के भीतर श्रुत पढ़ा हुआ हो वही जिनकल्प ग्रहण कर सकता है। जिनकल्पिक नग्न, निष्प्रतिकर्म और विविध अभिग्रहधारी होने के नाते एक होते हुए भी, 'पाणिपात्र' और 'पात्रधारी' के भेद से दो प्रकार के होते है। (१) पाणिपात्र भी उपधि भेद से चार प्रकार के होते थे। कोई रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो उपकरण रखते, कोई उक्त दो के अतिरिक्त एक, कोई दो और कोई तीन कल्प (चादरें) रखते थे। ..... सूत्रकालीन स्थविरकल्पिकों का वर्णन इस प्रकार है : 'जो भिक्षु तीन वस्त्र और एक पात्र के साथ रहता है, उसे कभी चतुर्थ वस्त्र मांगने की इच्छा नही करना चाहिये। तीन वस्त्र भी निर्दोष जानकर मांगने चाहिये और जैसे मिले वैसे ही काम में लाने चाहिये। न उन्हें धोवे रंगे, न धुले-रगे वस्त्रो को धारण करे। विहार में उन्हें न छिपाकर अल्पवस्त्रवान् होकर फिरे। यही वस्त्रधारी की सामग्री है। जब वह यह समझे कि शीतकाल बीत गया और ग्रीष्मकाल आ गया है तब यथाजीर्ण वस्त्रों को त्याग दे या कम कर दे अथवा एक शाटक (टुकड़ा) रखकर बाकी त्याग दे अथवा बिल्कुल अचेल बन जाय।"

इस उद्धरण से पाठक श्वेताम्बर मान्यता को जान सकते हैं। श्री कल्याणविजयजी ने आगे एक पात्र और दो वस्त्रादि के विधान का उल्लेख किया है। यह भी लिखा है कि यदि लज्जा प्रतिच्छादन को न छोड़ सके तो कटिबन्ध रख ले। भाष्यकाल में उपकरणों मे कुछ वृद्धि हो गई और कटिबन्ध का स्थान चोलपट्ट ने ले लिया। इस प्रकार श्वेताम्बरीय मत से जिनकल्प और स्थविरकल्प की व्याख्या है।

---

१ 'से जहानामए अज्जोमए समणाणं निग्गंथाणं नग्गभावे, मुंडभावे, अण्हाणए, अदंतवणे, अच्छत्तए, अणुवाहणए, भूमिसेज्जा, फलगसेज्जा, कट्ठसेज्जा, केसलोए, बंभचेरवासे, लद्धावलद्ध वित्तीओ जाव पण्णत्ताओ एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं णिग्गंथाण नग्गभावे जाव लद्धावलद्ध वित्तीओ जाव पन्नवेहिंत्ति।'—ठाणाङ्ग सूत्र (हैदराबाद) पृ० ८१३; 'सूत्रकृताङ्ग' (पृ० ७२) में भी निर्ग्रन्थ श्रमणों को मुंडे सिर नंगे फिरनेवाला लिखा है। (नगिणापिंढोल गाहमा। मुंडाकंडूविणठ्ठंगा।)

२ ठाणाङ्गसूत्र पृ० ६६१

दोनों मतों में अन्तर अब दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यता का भेद स्पष्ट कर देना आवश्यक है। पाठक देख सकते हैं कि दिगम्बर मान्यता दोनों ही कल्पों में आचेलक्य को प्रधानता देती है—दिगम्बरत्व के बिना निर्ग्रन्थत्व तो हो ही नहीं सकता। इसके विपरीत श्वेताम्बर मान्यता जिनकल्पी साधुओं के लिये तो दिगम्बर रहना आवश्यक ठहराती है, परन्तु स्थविरकल्पी साधुओं को लंगोटी से लेकर तीन वस्त्र तक धारण करने की अनुमति देती है और यह साधु की खुशी पर निर्भर है कि वह अचेलकव्रत पाले या नहीं। जिनकल्पी के लिये भी चादरें रखने की छूट है। यह कैसी विडम्बना है? जब सवस्त्रदशा से मोक्ष मिल सकता है तो कोई क्यों नगा होने लगा? तब नगा होने की आवश्यकता ही क्या रही? उस पर कहना यह है कि यदि साधक लज्जा के कारण प्रतिच्छादन न छोड़ सके तो कटिबंध रखने का भी विधान है—इस अवस्था में भी वह मोक्ष पा सकेगा। लज्जा एक दोष है—उसको छिपाने के लिए ही वस्त्र रक्खा जाता है, यह बात श्वेताम्बर भी मानते हैं। फिर लज्जादोष के रहते हुए मोक्ष कैसे संभव हो सकता है? इसके अतिरिक्त भ० महावीर ने श्रमणसंघ के लिये सामान्य रूप में सब ही के लिए जो नग्नभाव मुण्डभाव आदि का विधान किया, वह कैसे बन सकता है? जब पहले पहल सब ही मुनि स्थविरकल्पी वस्त्रधारी होते थे और उनमें से केवल वज्रऋषभनाराच संहननधारी विरले ही जिनलिङ्गी हो पाते थे—क्योंकि इस उत्तम संहनन का धारी हर कोई तो होता नहीं, तो फिर भ० महावीर के संघ में वस्त्रधारी निर्ग्रन्थ ही होना चाहिये—नग्न जिनकल्पी तो अल्प होना चाहिये। इस अवस्था में श्रमणत्व का मुख्य लक्षण और उद्देश्य 'नग्नभाव' कैसे सिद्ध हो सकता होगा? श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों के अतिरिक्त किसी भी जैनेतर ग्रन्थ, शिलालेख या मूर्ति में इस बात की पुष्टि नहीं होती कि जैनमुनि वस्त्र पहना करते थे। कोई भी ऐसी मूर्ति किसी तीर्थङ्कर या मुनि की उस प्राचीन समय की नहीं मिली है जो वस्त्रयुक्त हो और श्वेताम्बरों की मान्यता को पुष्ट करे। जब श्वेताम्बर मतानुसार पहले और अन्तिम तीर्थङ्कर के अतिरिक्त मध्यवर्ती बाइस तीर्थङ्कर वस्त्रधारी श्रमण हुये थे तो उनकी वैसी मूर्तियाँ क्यों नहीं बनाई गईं? प्राचीन जैनियों की यदि यही मान्यता थी तो उन्होंने अपनी श्रद्धा के विपरीत मध्यवर्ती तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ दिगम्बर (नग्न) क्यों बनाई? क्यों श्वेताम्बर मत के आचार्यों ने मथुरा में दिगम्बर मूर्तियों को ही पूज्य माना? सब प्राचीन स्पष्ट जिनप्रतिमायें पटना के पास से प्राप्त हुई हैं—वे मौर्यकालीन दिगम्बर प्रतिमायें हैं[1] और फिर श्वेताम्बरों ने दिगम्बर वेश जिनकल्पी मुनियों को वस्त्रधारी से अधिक विशुद्ध क्यों माना? (उक्कोसओ जिणाणं विसुद्ध जिणकप्पियाणन्तु—प्रवचनसारोद्धार भा० ३ पृ० १३) 'आचाराङ्ग' सूत्र में भी सर्वोत्कृष्ट धा.

1 जै० ऐंटीक्वेरी, भा० ३

कलाई पर वस्त्र का आच्छादन लटकाये हुये हैं ।[1] पहले पहल दिगम्बरत्व से एकदम सवस्त्र दशा मे आ जाना कठिन था । अतः पहले एक खंडवस्त्र ही धारण किया गया; जिसके कारण यह लोग 'अर्द्ध फालक' कहलाये । उपरान्त यह सम्प्रदाय बल पकड़ता गया और अपने आगम भी व्यवस्थित करता गया । परिणामतः दूसरी शताब्दि के प्रारंभ मे वह स्पष्टत' पूर्ण वस्त्रो को ग्रहण करके श्वेतपट (श्वेताम्बरो) के रूप मे प्रकट हो गया । ईस्वी छठी शताब्दि के लगभग श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने आगम-साहित्य को सुव्यवस्थित करके श्वेताम्बर दर्शन को भी स्पष्ट बना दिया था । इसके विपरीत दिगम्बर जैनों ने उपलब्ध अंग साहित्य को इस घटना से बहुत पहले—विक्रमीय पहली शताब्दि के लगभग ही लिपिबद्ध कर लिया था । दिगम्बर पट्टावलियों मे अंगधर ऋषियो की नामावली ठीक से दी हुई मिलती हैं, जिससे स्पष्ट है कि अङ्गज्ञान क्रमशः विलुप्त होता आया था । हाथी गुफा के शिलालेख से इस मान्यता की पुष्टि होती है, क्योंकि उसमे जिनश्रुत के लुप्त होने का उल्लेख है ।[2] इस प्रकार दिगम्बर-मान्यता स्वाभाविक रूपमे उचित जंचती है और उसकी पुष्टि स्वाधीन साक्षी से भी होती है ।

श्वेताम्बर-मान्यता यह नहीं स्पष्ट करती कि आर्य महागिरि एव उनके शिष्यो ने किस कारण से जिनकल्प (दिगम्बरत्व) को प्रधानता दी थी, जब कि वे जानते थे कि उनका वज्रवृषभनाराच संहनन नही है ? वास्तव मे उसका कारण यही हो सकता है कि प्राचीन निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) संघ ने दक्षिण भारत से लौटकर उत्तर भारत के संघ की उसके भ्रष्टाचरण पर भर्त्सना की थी । आर्य महागिरि ने उनकी बात ठीक मानी और प्राचीन निर्ग्रन्थरूप—नग्नत्व धारण कर लिया, परंतु समय के प्रभाव ने उनके मत को पनपने नही दिया । उनके शिष्य सचेल श्वेताम्बरीय अर्द्ध फालकों मे जा मिले, जो पहले नग्न रहते हुये भी कपड़े धारण कर लेते थे । उनमे से जो नग्न वेष मे रहे वह प्राचीन निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) जैनो मे सम्भवतः सम्मिलित हो गये होंगे ।

ऐतिहासिक प्रकाश । श्री कल्याणविजयजी के उपर्युल्लिखित विवेचन मे निम्नलिखित बातें ऐतिहासिक साक्षा से बाधित हैं.—

(१) भ० महावीर के संघ मे पहले सब ही साधु स्थविरकल्पी (वस्त्रधारी) होते थे; उपरान्त उनमे से कुछ जिनकल्पी (दिगम्बर) हो जाते थे;

(२) भ० महावीर के निर्वाण जाने के ६४ वर्ष तक कुछ जिनकल्पी साधु हुये; बाद को सब स्थविरकल्पी (वस्त्रधारी) ही हुये;

(३) दिगम्बर सम्प्रदाय का जन्म आचार्य शिवभूति द्वारा लगभग ५ वीं ६ ठी शताब्दि के हुआ । लगभग इसी समय मूलसंघ अस्तित्व मे आया ।

1 *Buhler* Ep Ind, II 316 & Festschrift Prof Kane—(Poona) p 232
2. GBORS, XIII, 236 ff

प्रथम मान्यता के विषय में हम पहले ही दिगम्बर और श्वेताम्बर मत का दिग्दर्शन कर आये हैं, जिससे स्पष्ट है कि महावीर संघ म साधुओं का वेष नग्न था। श्वेताम्बरीय आगम-सूत्र म थों में शायद ही कहा पर जिनकल्प या स्थविरकल्प का वेसा उल्लेख हो जैसा कि श्री कल्याणविजयजी ने दर्शाया है—यह वर्णन भाष्य और चूर्णियों में ही मिलता है। वास्तव में जैन साधु का प्राचीन वेष नग्न ही था। जैनेतर साहित्य और पुरातत्त्व की साक्षी इस बात की ही पोषक है और उससे श्री कल्याणविजयजी की उपर्युक्त प्रथम व द्वितीय मान्यता का खण्डन होता है —

जैनेतर साहित्य में वैदिक और बौद्ध सम्प्रदायों के ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। अत पहले ही वैदिक साहित्य को लीजिये। 'ऋकसंहिता' (१०।१३६—२) म 'मुनयो वातरसना" का उल्लेख है। हिन्दूपुराण भागवत' से स्पष्ट है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने जिन ऋषियो को दिगम्बरत्वका उपदेश दिया था, वे 'वातरशनाना' श्रमण कहे गये हैं। प्रो० अल्बर्ट वेबर ने भी उक्त उल्लेख को दिगम्बर जैन मुनियो के लिये प्रयुक्त हुआ बतलाया है[1]। 'अथर्ववेद' (अ० १५) म व्रात्य' लोगों का उल्लेख है, जिन्हे प्रो० चक्रवर्ती दि० जैन श्रमण प्रमाणित करते हैं। उसमें ज्येष्ठव्रात्य को 'समनिचमेढ्र' लिखा है, जिसका भाव अपेत प्रजनना[2] होता है और यह उनके दिगम्बरत्व का द्योतक है। इन उल्लेखो से वैदिक काल म दिगम्बर जैन मुनियों का अस्तित्व सिद्ध होता है जब कि श्वेताम्बर मतानुसार सब ही तीर्थङ्कर और मुनि वस्त्र पहननेवाले साधु होते थ। अत उनकी यह मान्यता बाधित है।

उपरान्तकालीन उपनिषद् भी यथाजात दिगम्बरत्व का विधान अपने साधुओं के लिये करते हैं और उन्हें तुरियातीत और अवधूत परमहंस कहकर पुकारते हैं।[3] इनमें साधु निर्ग्रन्थ, निष्परिग्रही, यथाजातरूपधारी और शुक्लध्यानपरायण लिखा है। (यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रह   शुक्लध्यानपरायण '—जाबालोपनिषद् सूत्र ६) शुक्लध्यान जैनदर्शन की मुख्य वस्तु है। वस्तुत दिगम्बर जैन मुनियों का प्रभाव उपनिषद्कालीन ऋषियों पर पड़ा प्रतीत होता है। यही कारण है कि उन्होंने वैसी साधुचर्या का विधान किया है जैसी कि दिगम्बर शाखा में है। इससे उपनिषद्काल में दि० जैन मुनियो का अस्तित्व प्रमाणित होता है जो निर्ग्रन्थ कहलाते थे।

रामायण' में (बालकाड १४।२२) उन श्रमणों का उल्लेख है जो भूषण टीका में दिगम्बर

---

१ Indian Antiquary XXX p 280

२ हमारे ग्रंथ "भगवान् पार्श्वनाथ" की प्रस्तावना देखो।

३ "दिगम्बरत्व और दि० मुनि" पृष्ठ २१ २६

हुआ है।[1] इसी ग्रन्थ में ईस्वी तीसरी या चौथी शताब्दि के लगभग कलिङ्ग में गुहशिव नामक राजा निगंठो का भक्त लिखा है। निर्ग्रन्थ यहां भी दिगम्बर लिखे हैं। बौद्ध नैयायिक कमलशील ने जैनों का अह्रीक नाम से उल्लेख किया है। 'अह्रीकादयश्चोदयन्ति'— स्याद्वादपरीक्षाप्रकरण, तत्वसंग्रह पृ० ४८६) इन उल्लेखों से यह भी स्पष्ट है कि दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व पांचवी-छठी शताब्दि से पहले से चला आता था। उस समय उनका नया प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।

फाह्यान्[2] और हुएनत्सांग[3] नामक चीनी यात्रियों को सारे भारत में दिगम्बर जैनी फैले हुये मिले थे। हुएनसांग ने निर्ग्रन्थ साधु को नग्न ही लिखा है।[4] इनके बहुत पहले सिकन्दर महान् के समय में यूनानी लेखकों ने जैन श्रमणों को दिगम्बर ही लिखा था।[5] ई० पूर्व सन् २५ मे पाड्यराज ने यूनान के शाह ऑगस्टस के लिये भेंट भेजी थी। उसके साथ एक श्रमणाचार्य (जैन गुरु) भी गये थे, जिन्होंने दिगम्बर वेष में सल्लेखनाव्रत द्वारा अपने जीवन का अन्त अथेन्स नगर में किया था।[5] ईस्वी प्रथम शताब्दि में अपोल और दमस नामक यूनानी तत्त्ववेत्ता भारत आये थे और उन्होंने दि० जैन मुनियों से शास्त्रार्थ किया था।[6]

तामिल साहित्य। मे 'मणिमेखलै' और 'सिलप्पदिकारम्' नामक दो महाकाव्य प्राचीन संगमकाल की रचनायें हैं। इनमे से पहला काव्य एक बौद्ध लेखक की कृति है। इसमें दिगम्बर जैनों का उल्लेख है।[7] एक स्थल पर इसमें लिखा है कि 'मानाइकन नामक

---

१ 'इमे अहिरिका सब्बे सद्धादिगुणवज्जिता। यद्धा सठा च दुप्पञ्ञा सग्ग मोक्ख विबन्धका ॥८८॥ इति सो चिन्तयित्वान गुहसीवो नराधिपो। पब्बाजेसि सकारट्ठा निगण्ठे ते असेसके ॥८९॥

—दाठावंसो पृ० १४

२ फाह्यान्, पृ० ३१-४५ (The Niganthas were ascetics who went naked— Fa-Hian, Beal, pp. 110-113)

३ "The Lihi (Nirgranthas) distinguish themselves by leaving their bodies naked & pulling out their hair"—St Julien Vienna, p 224.

४ "Alexander heard that these *Sramans* went about naked··· "—Mc Crindle, Ancient India, p. 70

"Those Indians, who are called *Semnoi* (श्रमण) go naked all their lives"— Clemens Alex

५ Indian Historical Quarterly, Vol II, p 293

६ " . ·disputed with Indian gymnosophists"

QJMS XVIII, 305-306

Term 'Indian Gymnosophists applies very aptly to the Niganthas (Digambara Jains)"

—Encyclo .Britannica, XV 128.

७ Studies in South Indian Jainism, pt. I pp 47-48
"These Jains were the Digambaras is clearly seen from their description

—S. K. Aiyangar.

व्यक्ति निग्रन्थ संघ में जाकर दिगम्बर मुनि हो गया।[1] यही बात दूसरे महाशय से स्पष्ट है, जो एक दिगम्बर जैन की ही रचना है। इनसे दिगम्बर जैनों का अस्तित्व प्राचीन काल से सिद्ध होता है।

भारतीय पुरातत्त्व में साधुता के लिये दिगम्बरत्व का महत्त्व प्राचीन काल से स्पष्ट है, क्योंकि सिंधु उपत्यका से उपलब्ध पुरातत्त्व में अनेक नग्न मूर्तियां मिली हैं। यह मूर्तियाँ दि० जैनमूर्तियों के अनुरूप हैं।[1] वहां की एक मुद्रा पर जिनेन्द्र शब्द भी पढ़ा गया है।[2] अतः आज से चार पांच हजार वर्षों पहले दिगम्बर मुद्रा का प्रचार प्रमाणित होता है।

सम्राट अशोकने अपने सातवें स्तम्भलेख में निग्रन्थ साधुओं का उल्लेख किया है। निग्रन्थ से भाव दिगम्बर जैन साधु होता है।[3] हाथीगुफा के एवं वहां के अन्य शिलालेखों में दिगम्बर मुनिजनों का उल्लेख तापस और श्रमण नाम से हुआ है।[4] वहाँ की सब ही प्रतिमायें दिगम्बर हैं। मथुरा के कंकालीटीला से प्राप्त पुरातत्त्व से भी दि० जैनों का तत्कालीन अस्तित्व प्रमाणित है। वहाँ के एक स्तूप के चित्रपट में एक जैन मुनि पीछी व कमंडल लिये हुए नग्न दिखाये गये हैं।[5] होलीदरवाजा से मिले आयागपट पर जो लेख है उसमें स्पष्ट निर्ग्रन्थ आर्हतों का उल्लेख है।[6] ऐसे ही और उल्लेख भी यहाँ हैं। अहिच्छत्र (बरेली) के एक स्तंभलेख से (१ या २ श०) महाचार्य इन्द्रनन्दि का अस्तित्व प्रमाणित है,[7] जो प्राचीन नन्दिसंघ (दिग०) से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। गुप्तकालीन कुहाऊ के स्तम्भलेख से भी दिगम्बर जैनों का अस्तित्व सिद्ध है—इस स्तंभ पर दिगम्बर जैन प्रतिमायें अङ्कित हैं।[8] पहाड़पुर (राजशाही) के ताम्रलेख में उल्लेख है कि सन् ४७२ ई० में आचार्य गुहनन्दि द्वारा शासित निर्ग्रन्थ संघ वहाँ मौजूद था, जिसका सम्बन्ध दिगम्बर जैनाचार्य श्री जिनसेन द्वारा उल्लिखित 'पंचस्तूपान्वय' से समन्वित है।[9] उदयगिरि (भेलसा) के ५वीं शती के लेखों से दिगम्बर जैन संघ का अस्तित्व प्रमाणित है।[1] शक सं० ५२२ के श्रवणबेलगोलस्थ

---

१ रामप्रसाद चन्दा, Survival of the Prehistoric Civilisation of Indus valley, pp 25—33

२ प्रो० प्राणनाथ, Indian Historical Quarterly vol VIII suppl pp 18—32

३ श्वेताम्बराचार्य श्री आत्मारामजी ने 'तत्त्वनिर्णयप्रासाद' में निग्रन्थ की व्याख्या में लिखा है "यथाजातरूपधरा निग्रन्था निष्परिग्रहा।"

४ 'मवद्रिमान तापमान —, पंक्ति १४ बंगाल बिहार और उड़ीसा के प्राचीन जैन स्मारक, पृ० ३१—३७

५ जैन सिद्धान्त-भास्कर, वर्ष १ किरण ४ पृ० १२३

६ वीर, वर्ष ४ पृ० ३०३

७ संयुक्त प्रांतीय जैन स्मारक, पृ० ८१—८२

८ पूर्व० पृ० ३४

९ मॉडर्न रिव्यू, अगस्त १९३१, पृ० १५०   १० बम्बई प्रां० जैन स्मारक ७०

परीषहों का भी अभाव होकर केवल शेष ग्यारह परीषह रह जाते है जो कि वेदनीय कर्म के अनुषंगी है। और चूंकि वेदनीय कर्म का उदय अयोगि गुणस्थान के अन्तिम समय तक, अर्थात् जब तक शरीर और आयु है तब तक, बना रहता है, इसलिये ये ग्यारह परीषह अन्त तक सहनीय होते है। ये ग्यारह परीषह हैं—क्षुधा[१], पिपासा[२], शीत[३], उष्ण[४], दंशमशक[५], चर्या[६], शय्या[७], वध , रोग[८], तृणस्पर्श[१०] और मल[११]।

अब सूत्रकार की उक्त व्यवस्था पर उनके टीकाकार पूज्यपाद स्वामी व अकलंकदेव का क्या मन्तव्य है, यह देखना चाहिये। बादरसाम्पराय तक सभी परीषहों के मानने में तो कहीं कोई विशेषता नहीं है। सूक्ष्म साम्पराय में भी टीकाकारों ने १४ परीषहों को स्वीकार किया है। पर शेष के निराकरण करने में उन्होंने जो सूक्ष्मसाम्पराय को सूक्ष्म लोभ के होते हुए भी छद्मस्थ वीतराग के समान मान लेने की कल्पना की है, वह आवश्यक नहीं है। जिन आठ परीषहों का सूक्ष्मसाम्पराय में अभाव कहा गया है वे दर्शनमोह और चारित्रमोह की उन प्रकृतियों से उत्पन्न होते है जिनके उदय का सूक्ष्मसाम्पराय से पूर्व ही अभाव हो चुका है। उनमें ऐसा कोई परीषह नहीं है जो सूक्ष्मलोभ से सम्बन्ध रखता हो। अतएव सूक्ष्म साम्पराय में उनका अभाव मानना ठीक है, और इसके लिये सूक्ष्म-साम्पराय को वीतराग के समान मानने की स्थूल कल्पना आवश्यक नहीं है।

किन्तु छद्मस्थ वीतराग में चौदह परीषहों के सद्भाव मानने में टीकाकारों को आपत्ति उत्पन्न हुई है। उनका कहना है कि मोह के उदय की सहायता न होने से वीतराग के वेदनीय कर्म का उदय मन्द हो जाता है। अतएव उनके क्षुधादि वेदना का अभाव है और इसलिये उनके उस वेदना के सहन करने रूप परीषह का मानना ठीक नहीं है। फिर भी सूत्रकार ने जो उनके चौदह परीषहों का सद्भाव कहा है वह शक्तिमात्र की विवक्षा से है, जिस प्रकार कि सर्वार्थसिद्धि-विमानवासी देव के सातवीं पृथिवी तक गमन करने की शक्ति मानी जाती है। आगे केवली जिनके जो ग्यारह परीषहो का विधान सूत्रकार ने किया है उसके सम्बन्ध में टीकाकारों को विशेष आपत्ति उत्पन्न हुई है, और नाना प्रकार से उस सूत्र का अर्थ बैठाने का प्रयत्न किया गया है। सर्वार्थसिद्धिकार की एक कल्पना यह है कि सूत्र में **'न सन्ति'** इतना वाक्यांश और जोड़कर ऐसा अर्थ कर लेना चाहिये कि 'जिन भगवान् में ग्यारह परीषह नहीं होते'। राजवार्तिककार ने **"कैश्चित्कल्प्यन्ते"** इतना वाक्यांश सूत्र में और समझ लेने की सलाह दी है जिससे सूत्र का अर्थ होगा 'कुछ आचार्य जिन भगवान् में ग्यारह परीषहों की कल्पना करते है'। इन कल्पनाओं के समर्थन में दोनों टीकाकारों का कहना है कि मोहनीय या घातिकर्मो की सहायता के अभाव से क्षुधादि वेदनाओं का भी अभाव हो जाता है। इसका राजवार्तिककार ने यह उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार मंत्र और औषधि के बल से जब विषद्रव्य की मारण-शक्ति का क्षय कर दिया जाता है, तब वह विषद्रव्य मरण कराने में समर्थ नहीं होता;

उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि द्वारा घातिया कर्मों का क्षय हो जाने पर वेदनीय कर्म अपना फल दिखाने में असमर्थ हो जाता है, जिससे क्षुधादि वेदनायें नहीं होतीं। इसलिये केवली जिन में कोई परीषह नहीं होते। तथापि जिस प्रकार ज्ञानावरण का क्षय व पूर्ण ज्ञान का विकास हो जाने पर एकाग्रचिन्तानिरोध का भी अभाव हो जाता है, फिर भी उपचार से केवली में ध्यान की सत्ता मानते हैं, उसी प्रकार क्षुधादि वेदना रूप भावपरीषहों का अभाव होने पर भी वेदनीय कर्म के उदयरूप द्रव्य परीषह का सद्भाव मानकर जिन भगवान् में उपचार से ग्यारह परीषह कहे गये हैं।

टीकाकारों की इन सब युक्तियों पर से निम्न शंकायें उपस्थित होती हैं।

(१) क्या 'एकादश जिने' वाले सूत्र में 'न सन्ति' या 'कैश्चित्कल्प्यन्ते' इतना वाक्यशेष जोड़ना युक्तिसंगत है ?

(२) क्या वेदनीय कर्म के उदय में या उसकी तीव्रता में मोहनीय कर्म की सहायता अपेक्षित है ? क्या वेदनीय कर्म का उदय मन्द हो जाने पर क्षुधादि वेदनाओं का अभाव हो जाता है ?

(३) क्या घातिया कर्मों के क्षय हो जाने से वेदनीय कर्म की फलदायिनी शक्ति नष्ट हो जाती है ?

(४) शक्तिमात्र की विवक्षा का क्या तात्पर्य है, और सर्वार्थसिद्धि के देव का उदाहरण प्रकृत विषय पर किस प्रकार घटित होता है ?

(५) मंत्रौषधि द्वारा विषद्रव्य के प्रभाव को नष्ट करने का उदाहरण प्रकृत में कहां तक घटित होता है ?

(६) केवली में एकाग्रचिन्तानिरोध का अभाव और तिस पर भी ध्यान की कल्पना किस प्रकार होती है और उसकी उपमा प्रकृत विषय पर कहां तक ठीक बैठती है ?

अब मैं इन शंकाओं पर अपनी समझ के अनुसार कुछ विचार प्रकट करता हूँ—

(१) सूत्रों में किसी वाक्यशेष की कल्पना तभी की जा सकती है जब वे अपने रूपमें अधूरे हों और बिना कुछ जोड़े उनका ठीक अर्थ ही न लगता हो। ऐसी अवस्था में दो प्रकार से वाक्यशेष की कल्पना की जा सकती है। एक तो ऐसे शब्दों की जो ऊपर के सूत्रों द्वारा निर्दिष्ट हो चुके हैं और जिनकी अनुवृत्ति चालू है, और दूसरे कदाचित् ऐसे शब्दों की जो सूत्रकार की विशेष शैली के अनुसार हों और वह शैली अनेक स्थलों पर स्पष्ट दिखाई दे रही हो। प्रस्तुत 'एकादश जिने' सूत्र में इन नियमों के अनुसार यदि कुछ शब्दों का अध्याहार किया जा सकता है तो एकादश के साथ 'परीषहाः' का और वाक्य-पूर्ति के लिये अन्त में 'सन्ति' का, जिससे परिपूर्ण सूत्रवाक्य होगा 'एकादश परीषहाः जिने सन्ति'। किन्तु यहां 'न सन्ति' या 'कैश्चित् कल्प्यन्ते' जोड़ने के लिये कोई आधार

दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत इन वाक्यांशों को जोड़ने से कई आशंकाएं उठ खड़ी होती हैं जिनका कोई समाधान नहीं पाया जाता; जैसे, यदि यही सूत्रार्थ माना जावे कि 'जिन भगवान् में ग्यारह परीषह नहीं होते', तो उससे स्वभावतः यह अनुमान होगा कि शेष ग्यारह होते हैं, वे कौन से हैं? यदि यह वाक्यार्थ लिया जाय कि 'कुछ आचार्य ग्यारह परीषहों की कल्पना करते हैं' तो उससे अनुमान होगा कि सूत्रकार के सम्मुख प्रस्तुत विषय पर दो मतभेद उपस्थित थे, जिनमें से एक ही का उन्होंने यहां स्पष्ट उल्लेख किया और दूसरे का कोई स्पष्ट उल्लेख ही नहीं किया। इसपर से स्वभावतः अनुमान यही होगा कि सूत्रकार का मत उसी पक्ष में था जिसका उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है, इत्यादि। पर न तो प्रस्तुत प्रसंग में ऐसी कल्पना के लिये कोई आधार है और न शेष ग्रंथ में कहीं भी सूत्रकार ने ऐसी कथनशैली ग्रहण की है। अतः इन वाक्यशेषों की कल्पना निराधार प्रतीत होती है।

(२) यदि हम कर्मसिद्धान्तानुसार मोहनीय और वेदनीय कर्मों के स्वरूप पर विचार करें तो ज्ञात होता है कि वेदनीय कर्म की स्थिति और अनुभाग बन्ध मोहनीय कर्मोदय के आधीन है। जब मोहनीय कर्म का उदय मन्द-मन्दतर होने लगता है, तब उसी के अनुसार वेदनीय कर्म का स्थितिबन्ध भी उत्तरोत्तर कम होता जाता है; और जब सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान के अन्त में मोह के उदय का सर्वथा अभाव हो जाता है, तब वेदनीय का स्थितिबन्ध भी समाप्त हो जाता है। यहां तक तो वेदनीय कर्म मोहनीय के अधीन है। किन्तु बंधे हुए कर्म की सत्ता और उसके उदय में वेदनीय कर्म मोहनीय से सर्वथा स्वतंत्र है। मोहनीय का उदयाभाव ही नहीं, उसकी सत्तामात्र के क्षय हो जाने पर भी वेदनीय के बंधे हुए कर्मों की सत्ता जीव में बनी ही रहती है और वह बराबर उदय में आती रहती है, एवं उसकी तीव्रता व मन्दता उसके अनुभागोदय पर अवलम्बित रहती है। जब मोहनीय कर्म का उदय रहता है, तब उसके योग से वेदनीयोदय के साथ रागद्वेष परिणति का मिश्रण दिखाई देगा। मोहोदय के अभाव में रागद्वेष परिणति का भी अभाव हो जायगा। पर उससे वेदनीयोदयजन्य शुद्ध वेदना कम नहीं होगी, अभाव तो बहुत दूर की बात है। हां, वेदनीय कर्म का उदय जितनी मात्रा में मन्द होगा उतनी ही मात्रा में क्षुधादि वेदनायें मन्द होती जावेंगी। किन्तु वेदना का सर्वथा अभाव तो तभी माना जा सकता है जब उस कर्म के उदय का सर्वथा अभाव हो जाय। इस प्रकार कर्मोदय, वेदना और परीषह की तीव्रता व मन्दता का तरतमभाव व अभाव उत्तरोत्तर आनुषङ्गिक रूप से होता है।

(३) जब वेदनीय कर्म की फलदायिनी शक्ति मोहनीय कर्म के अधीन नहीं है, तब अन्य घातिया कर्मों के अधीन तो हो ही कैसे सकती है। दर्शनावरण कर्म के अभाव से केवली की दृष्टि निर्मल होगी, ज्ञानावरण के अभाव से उनकी समझदारी परिपूर्ण होगी, एवं

मोहनीय कर्म के अभाव से ऊपर कहे अनुसार राग द्वेष प्रवृत्ति नहीं रहेगी। पर इनसे वेदनीय कर्म-जन्य वेदना में तो कोई परिवर्तन न होगा। अन्तराय कर्म के अभाव में न केवल वेदनीय के उदय में कोई बाधा नहीं आयगी, बल्कि दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, इन शक्तियों के पूर्ण विकास में जो रुकावट हो रही थी वह दूर हो जायगी और उनकी पूर्ति का मार्ग खुल जायगा। नहीं तो इन शक्तियों की सार्थकता ही कहा सिद्ध होगी ? अतएव यह कहना ठीक नहीं जान पड़ता कि घातिया कर्मों के अभाव में वेदनीय की फलदायिनी शक्ति नष्ट या जर्जरित हो जाती है। सूक्ष्मसाम्पराय के अन्त समय में जब ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त मात्र होता है, उसी समय वेदनीय का स्थितिबन्ध उपशमक के चौबीस मुहूर्त और क्षपक के बारह मुहूर्त होता है। एवं क्षपक के वेदनीय का स्थिति सत्त्व थोड़ा नहीं असंख्यात वर्ष प्रमाण होता है जो क्षीणकषाय और सयोगी एवं अयोगी गुणस्थानों में बराबर अपनी स्थिति अनुसार अनुभाग का उदय दिखाया करता है। सयोगी जिन विहार करते हुए कर्म प्रदेशों की निर्जरा करते हैं, पर वे भी उक्त कर्म स्थिति का बहुत नहीं घटा पाते। वह फिर भी प्राय आयु की स्थिति से अधिक ही शेष रह जाती है। अतएव उसकी स्थिति को आयु प्रमाण करने के लिये उन्हें एक विशेष महत्त्वपूर्ण क्रिया करनी पड़ती है जिसे समुद्धात कहते हैं। यह समुद्धात क्रिया वे आयु के अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहने पर करते हैं। उस अन्तर्मुहूर्त में भी अयोगी के अन्तिम समय तक वेदनीय का उदय बराबर बना रहता है और उसका उदयाभाव और क्षय आयु के अन्त होने के साथ ही हो पाता है। ऐसी अवस्था में यह कैसे माना जाय कि घातिकर्मों के क्षय होने से ही वेदनीय कर्म की उदयशक्ति क्षीण हो जाती है ?

(४) शक्ति का सद्भाव होते हुए भी उसके उपयोग का अभाव वहीं पर माना जा सकता है जहां उसका कोई प्रतिबन्धक कारण मौजूद हो। सर्वार्थसिद्धि के देव में यदि सातवीं पृथिवी तक जाने की शक्ति है और फिर भी वह देव वहां जाता नहीं है तो इसमें प्रतिबन्धक कारण यह मानना पड़ेगा कि उसके वहा तक गमनागमन कराने वाले वेदनीय कर्म के उदय का अभाव है। और यही अभाव उस शक्ति के उपयोग का प्रतिबन्धक है। पर वीतराग में ऐसा कोई प्रतिबन्धक कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। बल्कि उसके विपरीत वेदनीयजन्य चर्यादि क्रियायें स्पष्टत मानी ही जाती है। तब फिर उनकी वेदना होने में कौन सी शक्ति का प्रतिबन्ध लगता है यह जान नहीं पड़ता।

(५) जिन मंत्रों और औषधियों में विषद्रव्य के प्रभाव को नष्ट करने की शक्ति होगी उनके प्रयोग से विषद्रव्य का प्रभाव अवश्य घट जायगा या नष्ट हो जायगा। किन्तु क्या घातिया कर्मों के नाश और वेदनीयादि अघातिया कर्मों के उदयाभाव में भी उसी प्रकार का कारण कार्य सम्बन्ध है ? विचार करने से ज्ञात होगा कि वैसा नहीं है। हम ऊपर

देख ही चुके कि उक्त कर्मों में एक दूसरे की फलदायिनी शक्ति को नष्ट करने का सामर्थ्य नहीं है। ऐसी अवस्था में उक्त उदाहरण प्रस्तुत विषय पर घटित नहीं होता।

(५) केवली के एकाग्रचिन्तानिरोध रूप ध्यान भले ही न होता हो, पर जो ध्यान उनके माना जाता है वह यथार्थतः चिन्तानिरोध रूप नहीं किन्तु क्रमशः योगों के निरोध रूप होता है। बादर और सूक्ष्म काय, वचन और मन का किस प्रकार एक के द्वारा दूसरे का निरोध किया जाता है, यही केवली की ध्यान क्रिया है जो उपचार से नहीं मानी गई, किन्तु यथार्थता से होती है। इस प्रकार दृष्टान्त में भी उपचार घटित नहीं होता। और दार्ष्टान्त में तो बिलकुल ही नहीं होता। वेदनीय कर्म का उदय होते हुए द्रव्य-परीषह का सद्भाव और वेदनारूप भावपरीषह का अभाव कैसे घटित होगा सो कुछ समझ में नहीं आता। वेदनीय कर्म का उदय जीव में वेदना उत्पन्न किये विना होगा ही किस प्रकार ? वह कर्म तो जीवविपाकी है जो अपनी फलदायिनी शक्ति को जीव में वेदना रूप से ही प्रकट करेगा। और उसी वेदना के सहन करने से परीषह होगा। इसके अनुसार जो शारीरिक क्रिया होगी उसे द्रव्यपरीषह कहा जा सकता है। अतएव वेदना रूप भावपरीषह के विना द्रव्यपरीषह हो ही कैसे सकता है, और उसमें उपचार मानने की गुंजाइश ही क्या है ?

इस प्रकार जहा तक हम विचार करते हैं टीकाकारों का विवेचन न तो सूत्रकार के वचनों की सार्थकता सिद्ध करने में समर्थ होता और न कर्मसिद्धान्त के नियमों के अनुसार बैठता। यदि हम टीकाकारों के मत को स्वीकार करते है तो हमें उपलब्ध कर्मसिद्धान्त को अप्रामाणिक कहना पड़ेगा, और यदि हम कर्मसिद्धान्त की प्रामाणिकता स्वीकार करते है तो टीकाकारों का विवेचन उपयुक्त नहीं सिद्ध होता। किन्तु सूत्रकार के जो वचन है, उन्हें यदि हम प्रारम्भ में प्रकट किये अनुसार अर्थ में लेवें तो उनका कर्मसिद्धान्त से ठीक सामञ्जस्य बैठता है।

उक्त टीकाकारो के अतिरिक्त यदि हम दिगम्बर सम्प्रदाय के प्राचीनतम तार्किक समन्तभद्रस्वामी का उक्त विषय पर मत जानना चाहते है तो हमें उनकी आप्तमीमांसा देखनी चाहिये। यहां उन्होने आप्त में दोष और आवरण की हानि आवश्यक बतलाई है। उनके विद्वान् टीकाकर विद्यानन्दि स्वामी के अनुसार दोष का अभिप्राय ज्ञानावरणादि भावकर्मों से है और आवरण का अभिप्राय उन्हीं के द्रव्यकर्मों से (देखो आप्तमीमांसा १,४-६) पर वेदनीय जैसे अघातिया कर्मों के भाव व द्रव्य उदय से यहां तात्पर्य नहीं हो सकता, क्योंकि आगे नौव परिच्छेद में वीतराग के भी दुःख की वेदना स्वीकार की गई है। ऐसी अवस्था में मर्मज्ञ विद्वानों को विचार कर स्पष्ट करना चाहिये कि सूत्रकार और उनके टीकाकारों का क्या एक ही अभिप्राय है, या भिन्न भिन्न।

जैन-सिद्धान्त-भवन के कार्यों का सिंहावलोकन

[ले० श्रीयुत प० क० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

यों तो जैन सिद्धान्त भवन आरा की नींव सन् १९०३ में ही पड़ चुकी थी। पर हां, उस समय यह जैन धर्म-पुस्तकालय के नाम से स्थापित हुआ था और साथ ही साथ इसके उद्देश भी इतने उच्च, गम्भीर एवं व्यापक नहीं थे। उक्त जैन धर्म पुस्तकालय को सन् १९०३ में श्रीमान् भट्टारक हर्षकीर्तिजी की अध्यक्षता में श्रीमान् स्व० बा० देवकुमारजी ने स्थापित किया था। इसमें उस समय बा० देवकुमारजी के घर के बहुमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त भट्टारक श्रीहर्षकीर्तिजी तथा स्थानीय कई धर्मात्माओं के अमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थ भी शामिल कर दिये गये थे। स्व० बा० देवकुमारजी के श्रद्धेय पितामह प० प्रभुदासजी संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। आप प० भागचन्दजी, प० दौलतरामजी आदि समाजमान्य विख्यात विद्वानों के समसामयिक थे। आपके पास संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओं के हस्तलिखित ग्रन्थों का अच्छा संग्रह था। प० प्रभुदासजी के स्वर्गवास के बाद वह पैत्रिक अमूल्य निधि स्व० बा० देवकुमारजी को मिली थी जिसको इन्होंने उक्त पुस्तकालय को भेंट कर दिया था।

उपर्युक्त जैन धर्म पुस्तकालय प्रारम्भ में श्रीमती स्व० श्रेयाम कुमारी के द्वारा निर्मापित दुनिशाल, श्रीशान्तिनाथ भगवान् के भव्य मन्दिर के बगल के एक विशाल हॉल में खोला गया था। पीछे सन् १९०८ में जब बा० देवकुमारजी का स्वर्गवास हुआ, तब उनके अन्तिम दिव्य आदेशानुसार सन् १९११ में, आमन्त्रित अन्यान्य प्रान्तों के जैन-जैनेतर विशाल जनसमुदाय के समक्ष पूर्वोक्त जैन धर्म-पुस्तकालय का नाम ही जैन सिद्धान्त भवन या The central Jaina Oriental Library के रूप में परिवर्तित किया गया। बा० देवकुमारजी के अन्तिम पवित्र आदेश निम्न प्रकार थे

"आप सब भाइयों से और विशेषतया जैन समाज के नेताओं से मेरी अन्तिम प्रार्थना यही है कि प्राचीन शास्त्र और मन्दिरों और शिलालेखों की शीघ्रतर रक्षा होनी चाहिये। क्योंकि इन्हीं से संसार में जैनधर्म के महत्त्व का अस्तित्व रहेगा। मैं तो इसी ही चिंता में था, किंतु अचानक काल आकर मुझे लिये जा रहा है। मैंने यह प्रतिज्ञा की थी कि जब तक इस कार्य को पूरा न करूंगा तब तक ब्रह्मचर्य का पालन करूंगा। बड़े शोक की बात है कि अपने अभाग्योदय से मुझे इस परम पवित्र कार्य करने का पुण्य प्राप्त नहीं हुआ। अब आप ही लोग इस पवित्र कार्य के स्तम्भ स्वरूप हैं। इसलिये इस परमावश्यक कार्य का संपादन करना आप सबका परम कर्तव्य है।"

श्रीमान् देवकुमारजी के इस अंतिम आदेश को पढ़कर हृदय गद्‌गद होता है, शरीर प्रफुल्लित हो जाता है और नेत्रों में आसू भर आते हैं। वास्तव में देवकुमारजी एक महान् व्यक्ति थे। उनकी मृत्यु बहुत ही अल्प अवस्था अर्थात् सिर्फ ३१ साल में हुई थी। अगर वे अबतक जीवित रहते तो पता नहीं कि जैन समाज की उन्नति के लिये वे क्या क्या करते! श्रीमान् स्व० सेठ माणिकचंद्रजी बंबई के बाद दिगम्बर जैन समाज के सच्चे सेवकों में बा० देवकुमारजी का ही शुभ नाम लिया जाता है। बा० देवकुमारजी के सफल नाम से दिगम्बर जैन समाज का बच्चा-बच्चा परिचित है। उन्होंने पाठशालायें स्थापित कराईं, विद्यार्थि-निलय (जैन बोर्डिंग हाउस) खुलवाया, वर्षों तक हिंदी 'जैन गजट' के संपादन द्वारा जैन समाज एवं साहित्य की सेवा की। आरा में उक्त जैन-सिद्धांत-भवन स्थापित करने का पवित्र भाव उन्हें सन् १९०७ की दक्षिणयात्रा के द्वारा ही उदित हुआ। इस यात्रा में बा० देवकुमारजी को खासकर मूडबिद्री में कई एक प्राचीन शास्त्रभाण्डारों का अवलोकन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इन भाण्डारों की व्यवस्था अत्यधिक शोचनीय थी। इसी से उन्होंने महसूस किया कि इन बहुमूल्य प्राचीन ग्रन्थरत्नों की रक्षा के लिये एक विशाल पुस्तकालय की स्थापना परमावश्यक है।

प्रारंभ में जैन-सिद्धान्त-भवन के मंत्री श्रीमान् स्व० बा० करोडीचन्द्रजी थे। इन्होंने आमरण भवन की अच्छी सेवा की। इनके मंत्रित्वकाल में खासकर ताड़पत्र के ग्रन्थों का अच्छा संग्रह हुआ है। इस पवित्र कार्य में श्रीमान् श्रद्धेय नेमिसागरजी वर्णी (वर्तमान भट्टारक श्रवणबेल्गोल) का विशेष हाथ था। अन्यथा ताड़पत्रांकित ग्रन्थों का इतना संग्रह होना आसान काम नहीं था। बा० करोड़ीचन्द्रजी ने ताडपत्र के इन अमूल्य ग्रन्थों के सग्रहार्थ पर्याप्त द्रव्य व्यय किया था। इस अत्यावश्यक पवित्र कार्य के संपादन के लिये कई योग्य प्रचारक खासकर कर्णाटक एवं तमिल प्रांत में भेजे गये थे। इन प्रचारकों ने ग्रन्थसंग्रह के साथ साथ दक्षिण के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सभी प्राचीन जैन ग्रन्थभाण्डारों की ग्रन्थ-तालिकाएं भी तैयार कर ली थीं जो कि आज भी भवन में मौजूद हैं। हां, पर मालूम होता है कि ये ग्रन्थ-तालिकाएं बहुत असावधानी से तैयार की गई थीं; इसीलिये इनमें बहुत सी भद्दी भद्दी भूलें रह गई हैं। खासकर दक्षिण भारत के मूडबिद्री, कारकल, वरांग, हुंबुच्च एवं श्रवणबेल्गोल आदि सुप्रसिद्ध प्राचीन जैन ग्रन्थभाण्डारों की एक विस्तृत, प्रामाणिक, सर्वाङ्गसुन्दर ग्रन्थसूची का निर्माण होना बहुत ही आवश्यक है। मेरी धारणा है कि उक्त विशाल ग्रन्थभाण्डारों में ऐसे-ऐसे भी अनेक ग्रन्थरत्न उपलब्ध हो सकते हैं, जिनके केवल नाम ही अन्यान्य रचनाओं में मिलते हैं। साथ ही साथ कर्णाटक तथा तमिल प्रांत के देहातों में भी ग्रन्थान्वेषण का कार्य अवश्य होना चाहिये। पर खेद की बात है कि इन परमावश्यक महत्त्वपूर्ण कार्यों की ओर किसी भी संस्था का ध्यान नहीं जाता! अस्तु, यह विषयांतर है। बा० करोड़ीचन्द्रजी एक साहित्यप्रेमी उत्साही सज्जन

थे। इस जैन सिद्धान्त भास्कर का शुभ जन्म भी सन् १९१२ में इन्हीं के मन्त्रित्वकाल में हुआ था जो कि स्वनामधन्य श्रीमान् सेठ पद्मराजजी जैन रानीवाले के सफल सम्पादकत्व में एक वर्ष तक सुचारुरूप से चलकर बन्द हो गया था।

इस प्रकरण में श्रीमान् स्व० बा० देवेन्द्रप्रसादजी का नाम भी अवश्य उल्लेखनीय है, जिन्होंने करोड़ीचन्द्रजी के उपर्युक्त प्रत्येक पुनीत कार्य में बराबर सहायता की थी। खासकर हिन्दुस्तान भर के जैन तीर्थों के फोटो जो भवन में संगृहीत हैं वे इन्हीं देवेन्द्र प्रसादजी के सुप्रयत्न के सुमधुर फल हैं। बा० देवेन्द्र प्रसादजी अंत तक जैन सिद्धान्त भवन के सहायक मन्त्रीपद पर आरूढ़ रहे। इन दोनों की असामयिक मृत्यु के उपरान्त श्रीमान् बा० सुपार्श्व दासजी गुप्त बी० ए० सन् १९२२ तक बराबर भवन की सेवा करते रहे। इनके मन्त्रित्व-काल में ग्रन्थसंग्रह के अतिरिक्त कोई उल्लेखनीय कार्य नज़र नहीं आता। हां, जैन सिद्धान्त भवन में विद्यमान प्राकृत, संस्कृतादि भाषाओं के हस्तलिखित एवं मुद्रित ग्रन्थों की एक सूची प्रकाशित हुई है अवश्य। पर यह सूची अधिक सुन्दर नहीं बन सकी है। फिर भी गुप्तजी का यह साहित्यिक कार्य अवश्य प्रशंसनीय है।

सन् १९२३ के अप्रैल मास में, जैन सिद्धान्त भवन के कार्यभार को स्व० बा० देवकुमारजी के सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्र श्रीमान् बा० निर्मलकुमारजी ने स्वयं अपने हाथ में लिया। संयोगवश उसी साल जुलाई महीने में काकतालीयन्याय से मैं भी आरा आ पहुंचा। इसके बाद भिन्न भिन्न समय में भवन के द्वारा मुख्य-मुख्य जो जो महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न हुए हैं, उनका विवरण निम्न प्रकार है

सर्व प्रथम भवन में संगृहीत कनड एवं तमिल लिपि के अन्यान्य भाषाबद्ध बहुमूल्य ताड़पत्र के ग्रन्थों की एक विश्वस्त तालिका तैयार की गई। क्योंकि इन ग्रन्थों की जो तालिका पहले से भवन में मौजूद थी, उसमें बहुतसी भद्दी-भद्दी त्रुटियां रह गई थीं। बाद जैनेतर हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची, संस्कृत, प्राकृतादि नागरी लिपि के अनेक संग्रह ग्रन्थों की विस्तृत सूची आदि बाद भवन की सभी ग्रन्थसूचियां ठीक की गई। सूचियों को ठीक करने के बाद भवन के अप्रकाशित महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित जैन ग्रन्थों की प्रशस्तियां संकलित की गई, जो कि दो जिल्दों में भवन में सुचारु रूप से सुरक्षित हैं। बल्कि उन्हीं में की कुछ प्रशस्तियां 'प्रशस्ति-संग्रह' के नाम से हाल ही में प्रकाशित हो चुकी हैं जिनको अन्वेषक विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से सराहकर शेष प्रशस्तियों को शीघ्र ही प्रकाशित करने के लिये जोरदार शब्दों में अनुरोध किया है।

इसके उपरान्त भवन ने मुनिसुव्रतकाव्य के हिंदी अनुवाद के कार्य को अपने हाथ में लिया। यह एक बहुत ही सुंदर, सरल पद्य सरस जैन महाकाव्य है जो कि सन् १९२९ में भवन की ओर से सटीक प्रकाशित हो चुका है। पश्चात् सन् १९३३ में, भवन में संगृहीत

अंग्रेजी पुस्तकों की एक सर्वांगसुंदर नालिका (Catalogue) एवं सन् १९३४ में ज्ञान-प्रदीपिका नामक फलित ज्योतिष का एक अपूर्व जैन ज्योतिष ग्रंथ प्रकाशित किया गया। सन् १९३५ में यह भास्कर पुनः उदित होकर जैन इतिहास, साहित्य, शिल्प, पुरातत्त्व, दर्शन आदि की जो अपूर्व सेवा कर रहा है, वह विज्ञ पाठकों से छिपी नहीं है। इसी जैन-सिद्धांत-भास्कर में क्रमशः तिलोयपण्णत्ति [जैन-लोकज्ञान-सिद्धांत विषयक एक सुंदर प्राकृत ग्रंथ], प्रशस्ति-संग्रह [जैन इतिहासनिर्माण का एक उपयोगी साधन], वैद्यसार [रसायन संबंधी एक अपूर्व जैन वैद्यक ग्रंथ], प्रतिमा-लेख-संग्रह, Jaina Literature in Tamil नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ धाराप्रवाह से प्रकाशित होते रहे जिनकी प्रतियां विक्रयार्थ अलग भी तैयार कराई गई हैं।

महत्त्वपूर्ण इस प्रकाशन के बीच में कन्नड-साहित्य-परिषत्-पत्रिका, प्रबुद्ध कर्नाटक, जय कर्नाटक, सुबोध, त्रिवेणि,+ विवेकाभ्युदय, शरण साहित्य, अध्यात्मप्रकाश, शक्ति, भारति,+ कर्णाटक बन्धु, वडवर बन्धु, कण्ठीरव (विशेषांकों में), किशोर, बालक, विश्ववाणी, वीरवाणि+ वीर, जैन दर्शन, जैन संदेश, जैन मित्र, जैन गजट, खण्डेलवाल जैन हितेच्छु, जिनविजय, जैन बोधक, अनेकांत, आर्यमहिला, आदर्श जैन चरितमाला, गोलापूर्व जैन, दिगम्बर जैन आदि सुप्रसिद्ध जैन एवं जैनेतर सामाजिक तथा सार्वजनिक पत्रों में अन्यान्य भाषाओं में मेरे द्वारा लिखे गये अन्यान्य विषय संबंधी छोटे-बड़े लगभग २०० लेखों, जैन दर्शन, जेनर मूरु रत्नगलु (कन्नड) दिगम्बर मुद्रा की सर्वमान्यता, मूर्त्तिपूजा की आवश्यकता, (हिंदी तथा कन्नड) आत्मनिवेदनम्, शांतशृंगारविलास (संस्कृत) आदि भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रचारार्थ लिखी गई लघुकलेवर रचनाओं, चित्रसेनपद्मावतीचरित, मुहूर्तदर्पण, कामन कालग (एक कन्नड खण्ड-काव्य) आदि मेरे द्वारा संपादित ग्रंथों एवं शांतीश्वरचरित, बृहद्समाधिमरण, चित्रसेनपद्मावतीचरित, ज्ञानकोष, रत्नकरण्डश्रावकाचार, ज्ञानप्रदीपिका और क्षत्रचूडामणि-काव्य आदि ग्रंथों के लिये लिखी गई आलोचनात्मक भूमिकाओं का श्रेय भी भवन को प्राप्त है। इतना ही नहीं धवला, जयधवला, पंपभारत, शान्तिपुराण, कविराजमार्ग, शान्तीश्वरचरित, परमात्मप्रकाश, पुष्पदंतपुराण, रसरत्नाकर, लीलावति, पंचतंत्र, वर्धमानपुराण, अभिधानरत्नमाला, शब्दमणिदर्पण और औषधिकोष आदि महत्त्वपूर्ण प्राकृत, संस्कृत एवं कन्नड आदि भाषाओं के ग्रंथो के प्रकाशन में भी प्रतिदान आदि के द्वारा भवन ने पर्याप्त सहायता पहुँचाई है।

यह हुई भवन के प्रकाशन की बातें। अब ग्रंथ-संग्रह की बातों को लीजिये। सन् १९२३ में, भवन में संगृहीत प्राकृत, संस्कृत, हिंदी, मराठी, गुजराती, कन्नड, तमिल एवं तेलुगु आदि भारतीय अन्यान्य भाषाओं के मुद्रित ग्रंथों की संख्या कुल ११९१ थी।

+ दीर्घ ईकारांत संस्कृत शब्द कन्नड भाषा में ह्रस्व ही होता है।

वही संख्या आज लगभग ६५०० को पहुंच गई है। इसी प्रकार मुद्रित अंग्रेजी पुस्तकों की संख्या सन् १९३० में जो लगभग ५०० की थी वह आज लगभग २६५० की है। इस समय ताडपत्र एवं कागज पर लिखे हुए हस्तलिखित ग्रन्थों की संख्या लगभग ६३७८ की है। हां, इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि मुद्रित ग्रन्थों की संख्या में जितनी वृद्धि हुई है, उतनी वृद्धि हस्तलिखित ग्रन्थों की संख्या में नहीं हुई। इसका कारण स्पष्ट है कि हस्तलिखित ग्रंथों की प्रतिलिपि में काफी द्रव्य व्यय होता है और इस कार्य को भवन की आय के अनुकूल प्रतिवर्ष सीमित रखना पड़ता है। फिर भी इस बीच में भारत के भिन्न भिन्न प्रांतों से खोज-खोज कर बहुत से मौलिक ग्रंथ लिखवाये गये हैं जिनकी प्रतिलिपियां भवन में पहले से मौजूद नहीं थीं। बल्कि इस कार्य के लिये हमें प्राचीन कई ग्रन्थ भाण्डारों की नई सूचियां भी तैयार करानी पड़ीं। भवन में संगृहीत कन्नड लिपि में वर्तमान ताड़पत्र के कई ग्रंथों की नागरी लिपि में प्रतिलिपि भी करनी पड़ी। भवन से भी बहुत से ग्रन्थ प्रतिलिपि कराकर बाहर भेजे गये। हां, सुज्ञ पाठक इतना अवश्य स्मरण रखेंगे कि भवन में मुद्रित या हस्तलिखित जो कोई भी ग्रन्थ संगृहीत होता है वह चुना हुआ महत्त्वपूर्ण ही होता है। ग्रंथों के अतिरिक्त Coin Collection Currency Notes Collection, Stamp Collection Match Collection, Playing Cards Collection, Cartoon Collection Art Picture Collection इन चीजों का भी भवन में अच्छा संग्रह हो गया है जिसका सारा श्रेय श्रीमान् बा० निर्मल-कुमारजी के चि० सुपुत्रों को मिलना चाहिये। भवन में, भिन्न भिन्न प्रांतों में विराजमान जिनप्रतिमाओं पर के लेखों का भी उल्लेखनीय संग्रह है जो कि जैन इतिहासनिर्माण के लिये अत्यतम उपयोगी साधन है।

जैन भ्रातृसंघ आदि जैन संस्थाओं के अतिरिक्त साहित्यमण्डल साहित्यपरिषत्, जिला हिंदी-साहित्य-सम्मेलन आदि सार्वजनिक स्थानीय साहित्यिक संस्थाओं को भी भवन ने स्थानप्रदान आदि के द्वारा पर्याप्त साहाय्य पहुँचाया है। इतिहास, साहित्य आदि गंभीर विषयों से संबंध रखनेवाले सैकड़ों पत्रों का समुचित उत्तर भी भवन ने बराबर दिया है जिससे पत्रप्रेषक विद्वानों को पर्याप्त संतोष मिला है। साथ ही साथ यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि भारत के प्रत्येक प्रान्त के जैन जैनेतर मान्य विद्वानों ने प्रत्यक्ष या परोक्षरूप में भवन से बराबर लाभ उठाया है और उठा रहे हैं। बल्कि भवन के अध्यक्ष के नाते नहीं, किन्तु एक साहित्यिक की हैसियत से मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि दिगम्बर जैन समाज में यह एक अद्वितीय संस्था है जिसके जोड़ की वर्तमान में दूसरी कोई संस्था नहीं है। महात्मा गांधी, श्रीमान् पं० मदनमोहन मालवीय, श्रीमान् सच्चिदानंद सिनहा, दीवान मिरजा एम० इस्मायल, Dr Walther Schubring Germany W Norman Brown America आदि सैकड़ों पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानों ने

भवन का संग्रह, सुव्यवस्था आदि के सबंध में जो शुभ उद्गार प्रकट किये हैं उन सबों को यदि संग्रह किया जाय तो एक बड़ी पोथी ही बन जायगी।

बा० देवकुमारजी अपनी मृत्यु के पूर्व कुछ सस्थाओं एवं मंदिरों के स्थायी संचालन के लिये अपनी जमींदारी में से ५०००) रुपये वार्षिक आयवाला एक गांव दान कर गये है। उसी में से १५००) रुपये प्रति वर्ष जैन-सिद्धात-भवन को मिलते है। इस आय के अतिरिक्त देवकुमारजी के धर्मश्रद्धालु सुयोग्य सुपुत्र बा० निर्मलकुमारजी एवं चक्रेश्वर-कुमारजी से और भी आवश्यकतानुसार यथेष्ट सहायता मिलती रहती है। बल्कि भवन के भवन-निर्माणार्थ प्रारभ में बा० देवकुमारजी जो २०००) रुपये नगद दे गये थे उनमें २०-२५ हजार और मिलाकर उनके सुपुत्रों ने सन् १९२४ में एक बहुत भव्य मंदिर निर्माण कराया है जिसकी प्रशसा सभी दर्शक मुक्तकण्ठ से किया करते है। वास्तव में भवन की यह इमारत बहुत ही सुंदर बनी है। यह भवन दो मजिला है। इसके प्रवेशद्वार के ऊपर सरस्वती की एक दर्शनीय मूर्ति विराजमान है। इसके बरामदे के बाद एक बहुत बडा हॉल है, जिसमें दो-तीन सौ आदमी आराम से बैठ सकते है। हॉल काफी हवादार और प्रकाशपूर्ण है। इस हॉल में प्रवेश करते ही ३ फुट लंबा और २७ इंच चौडा भवन के संस्थापक स्व० बा० देवकुमारजी के दिव्य तैल चित्र पर दृष्टि पडती है जो बहुत ही आकर्षक है। हॉल में अभ्यागतों एवं वाचकों के बैठने के लिये फर्श बिछा रहता है। फर्श के एक ओर एक लबा टेबुल है, जिसपर बहुत सी पत्रपत्रिकाए रखी रहती है। नीचे और ऊपर बडी-बडी अलमारिया पुस्तकों से सुशोभित है।

अस्तु, इस लेख को अधिक बढाना मेरा अभीष्ट नहीं है। इसलिये अंत में मै इतना और कह देना चाहता हूं कि ताडपत्र पर लौह लेखनी से लिखे गये सुंदर से सुंदर ग्रन्थ [जिनके पत्र लगभग ४ अंगुल चौडे, १॥-२ बालिश्त या उनसे भी अधिक लंबे है], मनोज्ञ कलापूर्ण, सचित्र जैन रामायण [जिसके आश्चर्यकारी रगीन चित्र निहायत पतले और चमकदार कागज़ पर प्रायः प्रत्येक पृष्ठ में अंकित है], एक छोटे से कार्ड पर लिखित तत्त्वार्थसूत्र तथा भक्तामरस्तोत्र, सोलह स्वप्न, समवसरण, महाराज चन्द्रगुप्त, पावापुरी एवं सम्मेदशिखर आदि के कलापूर्ण सुंदर चित्र आदि भवन की बहुत सी दर्शनीय चीजें मौजूद है। विद्वान् लेखको और कलाकारों के श्रम और चातुर्य का अवलोकन कर एकबार हृदय गद्गद हो जाता है और मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है। वास्तव में यह भवन खासकर जैन-धर्म-विषयक साहित्य, पुरातत्त्व एवं इतिहास आदि के अनुसंधान के लिये एक अद्वितीय संस्था है।

'नीतिवाक्यामृत' आदि के रचयिता श्रीसोमदेवसूरि

[ले० श्रीयुत डा० वी० राघवन, एम० ए०, पी एच० डी०]

'श्री माणिक्यचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला' (नं० २१) में श्रीसोमदेवसूरिकृत 'नीतिवाक्यामृत' का प्रकाश टीकासहित हुआ है। उस टीका के आरंभ में उल्लेख है कि सोमदेव ने यह ग्रंथ कान्यकुब्ज नरेश महेन्द्रपाल के इच्छानुसार रचा था। श्रीनाथूरामजी प्रेमी इस ग्रंथ की भूमिका में इस उल्लेख को अप्रामाणिक ठहराते हैं। यही नहीं, टीका के और भी कई उल्लेखों को उन्होंने अप्रामाणिक बताया है। वह यह भी कहते हैं कि यदि टीकाकार का उक्त कथन सच मान लिया जाय तो कालगणना में बहुत गड़बड़ी आती है। (पृ० २१-३०) प्रेमीजी ने पृ० २१ २२ पर लिखा है कि महेन्द्रपाल ने सन् ९०३ ७ तक शासन किया है और वह राजशेखर के संरक्षक थे। सोमदेवजी ने अपना 'यशस्तिलक चम्पू' सन् ९५९ ई० में पूर्ण किया। 'नीतिवाक्यामृत' उसके बाद की रचना है क्योंकि उसकी प्रशस्ति में सोमदेव के अन्य ग्रंथों के साथ 'यशस्तिलक' का भी उल्लेख है। इसका अर्थ हुआ कि महेन्द्रपाल से ८० या ५१ वर्ष पश्चात् 'नीतिवाक्यामृत' रची गई थी। अतः टीकाकार का कथन कि महेन्द्रपाल के लिये 'नीतिवाक्यामृत' की रचना हुई, गलत है। यह एक कल्पित कथा ही है।

इसके अतिरिक्त लेमुलवाड के दानपत्र से जो 'भारत इतिहास संशोधक पत्रिका' (१३।३) में प्रकाशित हुआ है और जिसका उल्लेख प्रेमीजी ने अपनी पुस्तक "जैन साहित्य और इतिहास" (पृ० ९० ९२) में सोमदेव के नीतिवाक्यामृत के प्रसंग में किया है, प्रकट है कि सोमदेव उस दानपत्र के समय अर्थात् ९६६ में राष्ट्रकूट-करद वद्यग के पुत्र तृतीय अरिकेसरिन् चालुक्य के राज्य में रहते थे। वद्यग अरिकेसरी द्वितीय के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनके समय अर्थात् ९५९ ई० में सोमदेव ने 'यशस्तिलक' को रचकर समाप्त किया था।

किन्तु एक ग्रंथकर्ता की रचनाओं का उल्लेख उसके किसी अन्य ग्रंथ की प्रशस्ति में होने पर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता अर्थात् यह मानना बिल्कुल निरापद नहीं है कि चूंकि 'नीतिवाक्यामृत' की प्रशस्ति में 'यशस्तिलक' का उल्लेख है, इसलिए वह उसके बाद की रचना है। यह तभी मान्य हो सकता है कि जब यह निश्चित हो जावे कि लिपिकर्ताओं ने संधियों और प्रशस्तियों में हस्तक्षेप नहीं किया है। दूसरे टीकाकार ने जिन कान्यकुब्ज नरेश महेन्द्रपाल के लिए सोमदेव को 'नीतिवाक्यामृत' रचते लिखा है,

वे उस नाम के द्वितीय महेन्द्रपाल नरेश होंगे, जिनका पता डा० त्रिपाठी ने दक्षिणी राजपूताना से उपलब्ध सन् ९४६ ई० के शिलालेख में पाया है और उनका उल्लेख अपनी 'हिस्ट्री ऑव कन्नौज' (पृ० २६९-२७१) में किया है। बालकवि रूप में राजशेखर को महेन्द्रपाल प्रथम (८८५-९१० ई०) का संरक्षण प्राप्त था और उन्हीं का उल्लेख सोमदेव ने सर्व अन्तिम ग्रंथकार के तरीके से किया है। वह एक अधिक वृद्धावस्था तक अर्थात् ९० वर्ष तक जीवित रहे थे अर्थात् त्रिपुरी के युवराजदेव द्वितीय के समय ९९० ई० तक मौजूद थे, जैसे कि एम० वी. वी. मिराशी ने सिद्ध किया है।[1] मान लीजिए कि सोमदेव राजशेखर से उम्र में थोडे ही छोटे थे और उनकी आयु भी अधिक थी, तो उनकी ज्ञात तिथियों (९५९ ई० यशस्तिलक और ९६६ ई० लेमुलवाड का दानपत्र) से उनका महेन्द्र-पाल प्रथम के सम्पर्क में आना भी असभव नहीं ठहर सकता।

लेमुलवाड दानपत्र में सोमदेव के दादागुरु का नाम गौडसंघ के यशोदेव लिखा है। चूंकि 'यशस्तिलक' में सोमदेव को देवसंघ का आचार्य लिखा है, इसीलिए प्रेमीजी ने बताया है कि संभवतः गौड से अभिप्राय 'गोल्ल' से होगा, जिसका उल्लेख श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में मिलता है।[2] यदि गौडसंघ का अर्थ बंगालीय प्राधान्य का संघ न माना जावे, तो सोमदेव को गौडसंघ से सम्बन्धित क्या अर्थ रक्खेगा, जैसा कि उल्लेख है ?

यह स्पष्ट है कि सोमदेव के 'यशस्तिलक' में अगणित ऐतिहासिक एवं अन्य उल्लेख है—बहुधा उनका वर्णन श्लेषालंकार के द्वारा किया गया है। एक दफा प्रारंभ में और फिर अन्त में सोमदेव राजा को 'धर्मावलोक' कहकर सम्बोधित करते है :—

१. अहो × × × धर्मावलोक महीपाल × ×

(अ० २, पृ० १९६)
K. M. 70 Pt I

२. अहो × × × धर्मावलोक × ×

(अ० ४ पृ० ७९)
K M 70 Pt II

राष्ट्रकूट-करद वड्यग चालुक्य की संरक्षकता में 'यशस्तिलक' की रचना की गई थी। और उसमें राष्ट्रकूट सम्बन्धी अनेक उल्लेख है, जिससे कवि का सम्पर्क उन राजाओं से प्रकट होता है। उदाहरणतः पृ० २८१ (भा० १) पर राजा का उल्लेख 'विक्रमतुङ्ग' रूप में हुआ है। यह 'तुङ्ग' शब्द राष्ट्रकूट-गुण सूचक है—राष्ट्रकूट राजाओं के नाम के अन्त में 'तुङ्ग' होता है। 'असमसाहस' वाक्य पृ० ५६२ (भा० १) पर एक योद्धा का नाम सूचक

---

१ The Chronological order of Rajasekhar's works, Pathak,
—Com: Vol pp 365—366

२ जैन साहित्य और इतिहास पृ० ८९

है और उससे सागन्ला और कैम्बे दानपत्रों में गोविन्द चतुर्थ के लिए प्रयुक्त वाक्य 'त्यागेनासमसाहसैश्च' का स्मरण होता है। पृ० ५६७ पर राजा का वर्णन 'चैद्यसुन्दरी नीलोत्पल' रूप में हुआ है और यह सर्व प्रकट है कि राष्ट्रकूट और चेदि राजवंशों में परस्पर विवाह सम्बन्ध हुए थे। अमोघवर्ष तृतीय और उसके पुत्र कृष्ण चतुर्थ, जिन्होंने गोविन्द चतुर्थ से चेदि सहायता द्वारा राजसिंहासन प्राप्त किया था, चेदि राजाओं के दामाद थे। पृ० ८१ (भा० २) एक मंत्रि का नाम 'वसुवर्ष' लिखा है और एक वन्दिन् को सुभाषितवर्ष कह कर सम्बोधन है। वर्षान्तक नाम राष्ट्रकूटों की ही विशेषता है। उनके सहायक और सम्बन्धी चेदि राजाओं के भी ऐसे नाम मिलते हैं।

अब देखना है कि राष्ट्रकूटवंश के मुख्य नरेशों अथवा उनकी शाखागत या करद नरेशों में किसी का उल्लेख 'धर्मावलोक' रूप में हुआ है? यह निश्चित है कि 'अवलोक'-अन्तक विशेष नाम राष्ट्रकूटों के ही होते हैं। सोमदेव ने जिस 'धर्मावलोक' विशेषण से नरेश का उल्लेख किया है, वह विशेषण बोधगया राष्ट्रकूट शाखा के राजा, गुणरत्नगुणार्णव के पौत्र और कीर्तिराज के पुत्र तुङ्गधर्मावलोक के नाम के साथ प्रयुक्त हुआ था।[1] सोमदेव ने इस वाक्य को किसी विशेष भाव से प्रयोग में लाया होगा और बहुत कर के उन्होंने बोधगया शाखा के उक्त राजा के सम्पर्क को स्मरण कर के उसका प्रयोग किया है। यदि सोमदेव बोधगया की ओर कुछ समय के लिए रहे माने जावें तो उनका गौड़संघ से सम्बन्धित होना संभव है।

इतिहास में कई दफा ऐसे प्रसंग आये हैं जिनसे प्रकट है कि राष्ट्रकूटों, चेदि और कन्नौज के गुर्जर प्रतिहारों में घनिष्ट सम्बन्ध था। स्वयं राजशेखर महोदय और त्रिपुरी के मध्य घूमते रहे थे। सन् ९१६ ई० में राष्ट्रकूट इन्द्र तृतीय ने कन्नौज को नष्टभ्रष्ट किया था। इस आक्रमण में अरिकेसरिन् द्वितीय के पिता नरसिंह ने भाग लिया था और अरिकेसरिन् द्वितीय के पुत्र के समय में सोमदेव ने 'यशस्तिलक' रचा था।[2] उपरान्त कर्णाट गुर्जर सम्बन्ध इतने बढ़े कि विवाह सम्बन्ध भी उनके हुए राजशेखर की 'कर्पूरमञ्जरी' में कुन्तलदेश के एक राजा का नाम वल्लभराज आया है जो निस्सन्देह राष्ट्रकूट नरेश का द्योतक है। श्री मम० मिराशी ने उन्हें गोविन्द चतुर्थ बताया है। इस कुन्तल नरेश की

---

१ See Buddhagaya R Mitra p 195 a Bodhagaya Rastrakuta inscrip., undated but palaeographically assigned to the 10th century A D by Mitra the inscrip is of the 15th year of the king who is described as the pupil of गुणरत्न Gunaratna.

२ पम्पभारत और आंध्र हिस्टारीकल रिसर्च सोसाइटी, ६ पृ० १६९ फोट ९

भूमिका

तिलोय-पण्णत्ती [त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति]—रचयिता—श्रीयति वृषभाचार्य; सम्पादक—प्रो० आदिनाथ उपाध्याय, एम० ए० डी० लिट् तथा प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए० एल०-एल० बी०; अनुवादक—श्री पं० बालचन्द्र शास्त्री; प्रकाशक—जैन संस्कृति-संरक्षक-संघ शोलापुर; मूल्य १२) रुपये; पृष्ठ-संख्या ३८ + ५२८।

यह ग्रन्थराज 'जीवराज-जैन-ग्रन्थमाला' का प्रथम पुष्प है। प्रारम्भ में प्रो० ए० एन० उपाध्ये ने अंग्रेजी में भूमिका लिखी है। इसके अनन्तर प्राक्कथन, जीवराज-जैन-ग्रन्थमाला का परिचय, ब्र० जीवराज गौतमचन्द्र दोशी की जीवनी और प्रस्तावना है। प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन लोक-सम्बन्धी विषय का वर्णन गम्भीरतापूर्वक प्रामाणिक प्रमाणों से हुआ है। यह करणानुयोग-सम्बन्धी अमूल्य रत्न होते हुए भी ऐतिहासिक ग्रन्थ है। ज्योतिष और गणितज्ञों को इसमें आधुनिक गणित से भिन्न और नवीन एक नहीं अनेक बातें मिलेंगी। करणसूत्रों की वासना में जो बौद्धिक चमत्कार है वह तो गणित के जानकारों के लिये अपूर्व है। प्रारम्भ में मङ्गलाचरण के अनेक अर्थ बतलाते हुए नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह भेदों के द्वारा मंगल का विस्तृत वर्णन किया है। लोक का क्षेत्रफल और घनफल, वेत्रासन, यवमध्य, गिरिकटक, दूष्य इत्यादि आकारों की कल्पना करके विभिन्न रीतियों से व्यक्त गणित द्वारा निकाला है। क्षेत्रफल सम्बन्धी यह प्रकरण रेखागणित और अंकगणित की दृष्टि से बहुत ऊँचे दर्जे का है। नरकों के इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों की संख्यानयन-सम्बन्धी सूत्र भी व्यावहारिक और उपयोगी हैं। इसी सम्बन्ध में गच्छ, चय, आदि और सर्वधन का साधन भी गणित-कौशल का सूचक है। पृष्ठ ८५ पर नरक पटलों में नारकियों की आयु बतलाई गई है, यह विषय सैद्धान्तिक और गणितज्ञ दोनों के लिये ही महत्त्वपूर्ण है। इन्द्रक आदि बिलों में आयु के हानि-वृद्धि-क्रम का कथन करणानुयोग के जिज्ञासुओं के लिये बड़े काम का है। इसी प्रकार नारकियों के शरीर की ऊँचाई उनके अवधिज्ञान का क्षेत्र, जन्ममरण के अन्तरकाल का प्रमाण आदि का कथन भी गणित-प्रक्रिया-सहित बताया गया है।

तृतीय अधिकार के प्रारम्भ में भवनवासियों के भेद, उनके भवनों की संख्या; अल्पर्द्धिक, महर्द्धिक और मध्यमर्द्धि धारक देवों के भवनों का स्थान; भवन एवं उनकी वेदियों का विस्तार, दैर्घ्य और उत्सेध आदि का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है। इसी अध्याय में

आगे जाकर असुरकुमारादि देवों के शरीर का ऊँचाइ गणित के करणसूत्रों सहित बताई गई है। स्वाध्याय प्रेमियों के लिये यह विषय अत्यन्त मनोरञ्जक और ज्ञानवर्द्धक है।

चतुर्थ अधिकार के प्रारम्भ म मनुष्यलोक का वणन करते हुए प्रसगवश पृष्ठ १६३ पर अंकित जीवा और चाप सम्बन्धी करण-सूत्र विशेष महत्त्वपूर्ण है। भास्कराचार्य जैसे गणितज्ञों ने भी इतनी सूक्ष्मता म जीवा और चाप क गणित का कथन नहीं किया है। आचार्य के सूत्र का अपेक्षा भास्कराचार्य के सूत्र में पर्याप्त स्थूलता है। भास्कराचार्य के सूत्र को वासना रूपान्तर से सिद्ध होती है, पर आचार्यकथित सूत्र में रूपान्तर की आवश्यकता नही पडता। आगे इसी अधिकार में धनुष जीवा आदि के गणित का कथन करते हुए विजयार्ध की उत्तर और दक्षिण जीवाओं का प्रमाण तथा पार्श्वभुजाओं का प्रमाण निकाला गया है। आगे इसी अधिकार में चौबीस तीर्थङ्करों के जन्मस्थान, माता पिता, जन्मतिथि जन्मनक्षत्र, वशों का निर्देश, जन्मान्तराल का प्रमाण, आयु, शरीर आदि का उत्सेध, केवलज्ञान के समय तीर्थङ्करों के शरीर का ऊर्ध्वगमन, समवशरण की रचना, उसकी वीथियों का निरूपण, भूमिशाल, और नाट्यशाल आदि का निरूपण आदि विषय महत्त्वपूर्ण हैं। यह स्वाध्यायप्रेमी जिज्ञासुओं के लिये विशेष ज्ञान दरदायक हैं। इसी अध्याय में लवणसमुद्र, धातकीखण्ड और पुष्करवरद्वीप का वर्णन किया गया है। इस वर्णन में आदि, मध्य और बाह्य सूची व्यास सम्बन्धी विषय म कई नवीन बातें हैं तथा सूची की परिधि बनाने वाला नियम गणितज्ञ क लिय विशेष उपयोगा हैं। व्यास, परिधि, बाण, सूची व्यास, वलयव्यास, आदि का कथन विस्तृत और महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन अच्छा हुआ है। अनुवादक ने प्रत्येक क्षेत्र के परिधि, व्यास, जीवा, चाप और बाण के व्यक्ताङ्क निकालने में प्रशसनीय श्रम किया है। हा, यदि करण सूत्रों की वासना गणित के साथ ही द दी जाती तो अधिक अच्छा होता। क्योंकि व्यक्त और अव्यक्त दोनों गणितों का समन्वय रहने स गणितज्ञा को अधिक लाभ होता। साथ ही जैन गणित का महत्त्व भी सूचित होता। आशा है, आगे इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया जायगा। ग्रन्थ की छपाइ, सफाई सर्वाङ्ग सुन्दर है। जैन साहित्य के प्रचार के लिये प्रत्येक मन्दिर और लाइब्रेरी में इस ग्रन्थराज को अवश्य मगाना चाहिये। स्वाध्याय प्रेमियों को ता इसकी एक प्रति अपने पास रखना नितान्त आवश्यक है।

—नेमिचन्द्र जैन, शास्त्री न्यायज्योतिषतीर्थ

पूर्वपुराणं—रचयिता—हस्तिमल्ल; सम्पादक—प्रो० के० जी० कुंदणगार, राजाराम कालेज, कोल्हापुर; प्रकाशिका—श्रीमती रुक्मिणीबाई, कोल्हापुर; पृष्ठ-संख्या—१२+५५=६७; मूल्य—१); १९४३; छपाई-सफाई सुन्दर।

इस पूर्वपुराण के रचयिता कवि हस्तिमल्ल का दिगम्बर जैन समाज में एक खास स्थान है। क्योंकि इस समाज के दृश्य काव्य-[नाटक] सम्बन्धी साहित्य के अंग को पुष्ट बनाने का सारा श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इनके दो नाटक मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई की ओर से प्रकाशित भी हो चुके हैं। हस्तिमल्ल के इस कन्नड पूर्वपुराण या आदिपुराण को प्रकाश मे लाकर श्रीयुत प्रो० कुंदणगारजी ने कन्नड-भाषा-भाषियों का बड़ा उपकार किया है। वास्तव में इसके उपलक्ष मे मित्रवर कुंदणगारजी विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

दुर्भाग्यवश प्रो० सा० को इस ग्रन्थ के प्रारम्भ के दो पृष्ठ नहीं मिले हैं। साथ ही साथ प्राप्त इस प्रति के प्रथम पर्व का पाठ भी बहुत अशुद्ध रहा। विद्वान् संपादक ने प्रारंभ के दो पृष्ठों की पूर्ति तो आदि पप का आदि-पुराण एवं अभिनव पंप की रामायण इन दोनो के आधार से की है और प्रथम पर्व के अशुद्ध पाठ को नीचे रखकर उसका शुद्ध पाठ अपनी ओर से ऊपर दे दिया है। इस प्रकार प्रस्तुत संस्करण काफी सुन्दर बन गया है। इसमें सन्देह नहीं है कि कुंदणगारजी ने इसके संशोधन में पर्याप्त परिश्रम किया है। फिर भी कहीं से इसकी दूसरी कोई शुद्ध प्रति मिल जाती तो सभव था कि यह और भी सुन्दर प्रकाशित होता।

इस ग्रन्थ में कुल दश पर्व हैं। इसमे प्रारंभ के सात पर्वों में भगवान् आदिनाथ की भवावलियां एवं शेष तीन पर्वों में उनकी पवित्र जीवनी वर्णित है। इसके प्रत्येक पर्व के प्रारंभ मे आचार्य जिनसेन के पूर्वपुराण का प्रारंभिक मंगल-पद्य ही मिलता है। बल्कि श्रीपुराण में भी यही बात देखने मे आती है। कवि ने अपने ग्रन्थ का नाम भी श्रीजिनसेन के पूर्वपुराण के समान पूर्वपुराण ही दे रक्खा है। फिर भी विज्ञ संपादक का कहना है कि यह ग्रन्थ महाकवि पप के आदिपुराण से साम्य रखता है। ग्रन्थ की भाषा प्रौढ़ है। इससे कवि की 'उभयभाषाकविचक्रवर्ती' यह उपाधि सार्थक सिद्ध होती है।

हस्तिमल्ल ने अपने आश्रयदाता पाण्ड्यमहीश्वर का कोई नाम नहीं दिया है। सिर्फ इतना ही मालूम होता है कि वे थे तो पाण्ड्यदेश के राजवश के, परन्तु कर्णाटक में आकर राज्य करने लगे थे। दक्षिण कन्नड जिले के कार्कल मे उन दिनों पाण्ड्यवंश का ही शासन रहा। यह राजवश जैनधर्मानुयायी था और इसमे अनेक विद्वान् तथा कलाकुशल राजा भी हुए है। 'भव्यानन्द' के कर्ता भी अपने को सिर्फ पाण्ड्यक्ष्मापति ही लिखते है, कोई विशेष नाम नहीं देते। कार्कल मे शासन करने वाला पाण्ड्यवंश पोंबुच (मैसूर) मे राज्यक

करने वाले जिनदत्तराय का वंशज था। मेरा ख्याल है कि हस्तिमल्ल के आश्रयदाता पाण्ड्यराज इसी वंश के रहे होंगे। बल्कि श्रीयुत प० नाथूरामजी प्रेमी ने भी 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक अपनी सुन्दर रचना में मेरे इस अनुमान का समर्थन किया है। हाँ, इसके अन्तिम निर्णय के लिये हस्तिमल्ल की कृतियों में प्रयुक्त पाण्ड्यराजधानी 'मारएयपुर' तथा सतनगम' इन दोनों की खोज परमावश्यक है।[1]

कवि के कालनिर्णय के प्रकरण में सम्पादक ने जहाँ पर स्वर्गीय आर० नरसिंहाचार्य का मत उद्धृत किया है, वहाँ पर थोड़ी सी भूल हो गई है। इसमें तो सिद्ध होता है कि नरसिंहाचार्य हस्तिमल्ल को इस आदिपुराण के कर्ता नहीं मानते थे। परन्तु वास्तव में उनका मत इससे विपरीत था। उन्होंने भी हस्तिमल्ल को ही आदिपुराण का कर्ता अनुमान किया था। दूसरी बात है कि मेरे ख्याल में सज्जनचित्तवल्लभ' के कर्त्ता मल्लिषेण ही हैं, न कि संपादक के कथनानुसार यह हस्तिमल्ल।

अन्त में मुझे सम्पादक को फिर एक बार धन्यवाद दिये देता हूँ कि जिन्होंने इस सुन्दर संस्करण को जनता के समक्ष उपस्थित कर बड़ा उपकार किया है। साथ ही साथ इसकी प्रकाशिका श्रीमती रुक्मिणी बाई एवं प्रेरक पूज्य स्वस्तिश्रीमुनि दशभूषण महाराज भी कम धन्यवाद के पात्र नहीं हैं। आशा है कि कर्णाटक-जनता इस सुन्दर ग्रन्थ से अवश्य लाभ उठायेगी।

—के० भुजबली शास्त्री

आदर्श महिला प० चन्दाबाई—लेखक—प० परमानन्द जैन शास्त्री, प्रकाशिका—महिलाभूषण प० ब्रजबालादेवी, जैनबालाविश्राम आरा, मूल्य १॥), पृष्ठ संख्या—प्राय तीन सौ, छपाई-सफाई सुन्दर।

प० चन्दाबाईजी एक आदर्श महिला हैं। आप जैन ही क्यों अजैन हिन्दुओं में भी अपनी साहित्यिक साधनाओं तथा लोकहित की भावनाओं द्वारा प्रसिद्धि पा चुकी हैं। आप का जीवन तपाया हुआ सोना है, यह बात किसी से छिपी नहीं है। ज्ञात होता है, आप अपने तप पूत जीवन को किसी चिर सत्य की ओर अग्रसर करती निर्बाध गति से चली जा रही हैं। आत्म सिद्धि के लिए लोक-कल्याण साधन भी अत्यन्त अपेक्षित है, इसे आपने समझ लिया है। तभी तो बालाविश्राम द्वारा आप मन, वचन और कर्म से कितने ही लौकिक जीवों को पारलौकिकता का पाठ पढ़ाती रहती हैं।

इस ग्रन्थ में पण्डिताजी के उद्देश्य, आत्मानुभूतियाँ तथा उदार भावनाओं का अच्छा परिचय मिल जाता है। साथ ही किन किन गुणों को आपने पालन किया है, किन किन

[1] विशद के लिए देखें मेरे 'प्रशस्ति-संग्रह' पृष्ठ १०१

प्रतिष्ठित संस्थाओं ने आप को सम्मानित किया है तथा आप की सेवाओं से किन किन लोगों ने लाभ उठाया है, इत्यादि बातों का भी दिग्दर्शन हो जाता है। ग्रन्थ मे अनेक चित्रों द्वारा रोचकता भी लायी गयी है।

लेखक महाशय सुयोग्य प्रतीत होते हैं, किन्तु प्रकरणो मे उचित क्रमवद्धता नहीं की जा सकी हैं। मालूम होता है, सामयिक पूर्वापर के विचार से वृत्तो का संकलन किया गया है। आत्मीयो का परिचय संक्षिप्त रूप में होता, तो अच्छा था। 'जैनमहिलादर्श का सम्पादन' शीर्षक प्रकरण में अभी और प्रकाश डाला जा सकता था। खैर, इस जीवनी मे सामयिक पूर्वापर-द्वारा चरित-विभाग न कर विषयविभाग द्वारा प्रकरण बनाये जाते, तो ग्रन्थ अधिक सुन्दर होता। कारण कि आजकल का पाठक किसी जीवन-चरित को पढ़ कर चरितनायक की कुल बातें जानकर ही सन्तोष नही कर लेता। वह चाहता है कि लेखक आलोचनात्मक शैली द्वारा भिन्न-भिन्न पहलुओं से चरित-सम्बन्धी घटनाओं तथा विशेषताओ को वर्ग-वद्ध कर दे, ताकि हमे कुछ ढूँढ़ना न पड़े; प्रत्युत सजी सजायी वस्तुएँ मिल जायँ। उपर्युक्त शैली का अवलंबन न करने से ही कहीं-कहीं विषय की पुनरुक्तियाँ आ गयी हैं।

भाषा व्याख्यानात्मक हैं। जहाँ तहाँ व्याकरण और प्रूफ की अशुद्धियाँ भी हैं। समर्पण के श्लोक सदोष हैं। तथापि पुस्तक की उपादेयता और सुन्दरता के समक्ष ये दोष नगण्य हैं। आशा है, दूसरे संस्करण मे सुधार हो जायगा।

मैं जोरदार शब्दों मे कहूँगा कि पुस्तक अवश्य संग्रहणीय है। पण्डिताजी के आदर्श पथ पर चल कर कितनी ही नारियाँ अपना कर्त्तव्य निर्णय कर सकती तथा जीवन को एक सधे हुए साँचे में ढाल सकती हैं।

—कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य

जैनसाहित्य और इतिहास—पृष्ठ-संख्या २०+६१५; कागज उत्तम; छपाई सुन्दर एवं विशुद्ध; जिल्ददार; मूल्य ३ रुपये; प्रकाशक हेमचन्द्र मोदी, प्राप्तिस्थान — हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर-कार्यालय, हीरावाग, गिरगाँव, वंबई।

यह वही पुस्तक है जिसे अस्तंगत "जैन हितैषी" एवं वर्तमान "माणिक्यचन्द्र-ग्रन्थमाला" के यशस्वी तथा सुबुद्ध संपादक श्रीमान् पं० नाथूराम प्रेमीजो ने लिखा है। मेरी समझ में इस पुस्तक के गुण दोषों पर विचार करने की शक्ति उसी की होगी, जिस जैन विद्वान् ने अपने साहित्य, इतिहास तथा पुरातत्त्व की समधिक अभिज्ञता प्राप्त की है। और वही इसकी समालोचना करने का प्रमुख तथा प्रकृत अधिकारी हो सकता है। इन गुणों मे से एक भी गुण मुझ में नहीं। अतएव मैं इसकी आलोचना करने का अधिकारी नहीं। किन्तु सुहृद्वर पं० के० भुजवली शास्त्रीजो विद्याभूषण का अधिक अनुरोध और उसका

महत्त्व करने का साहसाभाव, इन दो कारणों ने इस पुस्तक की कुछ बातों का उल्लेख मात्र कर देने को मुझे विवश किया है।

इस पुस्तक में जैन साहित्य और इतिहास का गगा और सरस्वती के समान सुन्दर सुप्रशस्त सगम है। इसमें निम्नाङ्कित विषयों का बडा ही पाण्डित्य एव गवेषणापूर्ण विवेचन किया गया है —

लोक-विभाग और तिलोयपण्णत्ति, आराधना और टीकायें, यापनीय साहित्य की खोज, सोमसूरि का नीतिवाक्यामृत, देवनन्दि और उनका जैनेन्द्रव्याकरण, पण्डित आशाधर, शाकटायन और उनका शब्दानुशासन आदि ४६ ग्रन्थ और ग्रन्थकर्त्ता। इनके अतिरिक्त ६ अप्राप्य ग्रन्थ। "छान बीन" शीर्षक के अन्तर्गत सघो, सघवी, सिघई, साधु साहु पति पत्नी के समान नाम, साधुओं का बहु पत्नीत्व, शूद्रों के लिये जिन मूर्त्तियाँ यज्ञोपवीत और जैनधर्म, जैनधर्म अनीश्वरवादी है आदि १२ विषय। 'परिशिष्ट' शीर्षक में लगभग १० ग्रन्थ और कुछ ग्रन्थों का साहित्यिक एव ऐतिहासिक पद्धति द्वारा सक्षिप्त तथा समीचीन समालोचना। 'नामसूची" शीर्षक के ४१ पृष्ठों में ग्रन्थों, ग्रन्थकारों सघ, गोत्र, स्थल, क्षेत्र और राजाओं के जितने भी नाम इस पुस्तक में आ गये हैं, वे सब के सब पृष्ठ सख्या के साथ अक्षरानुक्रम से दे दिये गये हैं।

नौ पृष्ठों में पुस्तक का परिचय (Introduction) बड़ी योग्यतापूर्वक प्रो० डा० ए० एन० उपाध्ये एम० ए० ने अग्रेजी में लिखा है। दो पृष्ठों में प्रो० हीरालालजी जैन एम० ए० ने सक्षेप में भारतीय इतिहास का अभाव, खासकर जैन सस्कृति के इतिहास की दुर्दशा एव इस दुर्दशा में परिणत करने के लिये प्रेमीजी के अदम्य अध्यवसाय तथा चिरचिन्तन का चित्र बडे सुन्दर ढग से चित्रित किया है। "लेखक की ओर से" इस शीर्षक-द्वारा इस पुस्तक के प्रादुर्भाव का आद्योपान्त सक्षिप्त इतिहास और इस सदनुष्ठान में सहयोगदाताओं के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन किया गया है। प्रकाशक [पुत्र स्मरणशेष स्व० हेमचन्द्र] ने अपनी माता की मृत्यु के समय अपने पूज्य पिता प्रेमीजी के द्वारा निकाले गये दो हजार रुपयों से इस पुस्तक के प्रकाशन का शुभानुष्ठान और इसकी आय से पुन ऐसी ही किसी सस्कृति के प्रकाशन की सदिच्छा से कागज के मँहगे अतर्क्य और अचिन्त्य दौर्लभ्य के समय में भी इस पुस्तक की इतनी कम कीमत प्रचार बाहुल्य के विचार से रक्खी गयी है—यों दिग्दर्शन कराया है। आशा है कि धर्मप्राण साक्षर एव निरक्षर जैन जनता अपने इतिहासगत निष्प्राण तथा निर्जीव समाज का मुखोज्ज्वल करने के लिये प्रेमीजी की इस पुस्तक को शीघ्र से शीघ्र हाथों हाथ खरीद कर इन्हें ऐसा ही कोई जैन इतिहास रत्न लिखवाने को बाध्य करेगी। क्या ही अच्छा हो यदि दानवीर शान्तिप्रसाद जी जैन इसकी बहुसख्यक प्रतियाँ

खरीद कर सभी श्वेताम्बर दिगम्बर एवं थोड़ा बहुत अन्यान्य विश्वजनीन संस्थाओं में वितरित कर जैन साहित्य और इतिहास की बहुमूल्य निधियों की झाँकी दिखला दें।

इस पुस्तक के बहुतेरे विषय प्रेमी जी ने संपादक के रूप में अस्तमित "जैन हितैषी" में और अन्यान्य जैन मासिक पत्रों में प्रकाशित किये थे तथा अधिकांश अलभ्य रचनायें इधर लिखकर इस विशालकाय पुस्तक को सुसज्जित किया है। इसमें जहाँ-तहाँ अनेक उपयोगिनी पाद-टिप्पणियाँ सोने में सुगन्ध सी अंकित हैं। आप के साहित्यिक और ऐतिहासिक लेख के प्रतिशब्द से व्यञ्जित होता है कि अपने समाज, साहित्य और इतिहास को परिष्कृत एवं समुन्नत करने की लालसा आपके हृदय में सदा से ही उद्भ्रान्त रूप से प्रोच्छलित होती चली आ रही है। किसी विषय का आपका अनुसन्धान परिश्रम एवं पाण्डित्य-पूर्ण होता है। अतः प्रो० हीरालालजी का यह कहना अक्षरश सत्य है कि प्रेमीजी का अनुसन्धान अनुसन्धानकों के लिये पथ-प्रदर्शक है। प्रेमी जी बड़े ही निरभिमान एवं प्रकृत पण्डित हैं। क्योंकि आप के पुराने लेखों में, जहाँ कहीं थोड़ी सी भी मत-विभिन्नता किसी विद्वान् ने प्रदर्शित की है, उसे बडे आदर के साथ एवं निराग्रह अपनी पाद-टिप्पणियों में सन्निविष्ट कर दिया है।

प्राचीन तत्त्वानुसन्धान विभाग के अविराम परिश्रम और गवर्नमेन्ट के अमित अर्थव्यय से नये-नये तथ्य ज्ञात हो रहे हैं और लोगों का दुराग्रह एवं अज्ञान शनैः शनैः अन्तर्हित हो रहा है। यद्यपि पाश्चात्य और प्राच्य अजैन विद्वानों ने अन्वेषण द्वारा जैन साहित्य तथा इतिहास के अनुसन्धान का मार्ग बहुत कुछ सुगम कर दिया है; पर मेरी तुच्छ बुद्धि में यह मत नितान्त भ्रान्त प्रतीत होती है कि कोई विजातीय विद्वान् व्यक्ति किसी दूसरी जाति के इतिहास पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर ले। क्योंकि इतिहास अपने समाज के सम्बन्ध से ही एकमात्र सम्बद्ध है। वह दूसरी-दूसरी चीजों पर भले ही अधिकार प्राप्त कर ले, पर समाज पर उसका अधिकार हो ही नहीं सकता। किसी जाति के इतिहास का समाज किले की तरह मजबूत चहारदीवारी से घिरा हुआ है। इसे बाहरी आदमी के लिये दुर्गम ही समझना चाहिये। विजातीय किसी दूसरी जाति के आत्मीय नहीं हैं। इसीसे वे बेरोक-टोक किसी दूसरे के घर के भीतर नहीं घुस सकते। अतः विजातीयों का लिखा हुआ इतिहास यथार्थ इतिहास नहीं, बल्कि उसे इतिहास का सामान्य अंश समझना चाहिये, अथवा उसे इतिहास का परिशिष्ट स्थान मिलना चाहिये। मेरे इस उल्लेख का तात्पर्य यह है कि जैन इतिहास जैन विद्वान् ही लिख सकते हैं। दूसरों की दाल इसमें गल ही नहीं सकती।

—हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुराणतीर्थ

—पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

सम्पादक की ओर से

आत्रेयगोत्रीय, जैन-विप्रोत्तम, पण्डितमुनि के शिष्य, पिरियपट्टण के निवासी, करणिकतिलक देवप्प के पुत्र, सोलहवीं शताब्दी के कवि दोड्डय्य का यह भुजबलिचरित भुजबलिशतक के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस लघु कलेवर सुंदर संस्कृत काव्य में कवि ने पुराणप्रसिद्ध श्रीबाहुबली अथवा भुजबली की मैसूर राज्यान्तर्गत श्रवणबेल्गोलस्थ, लोक-विख्यात, आश्चर्यकारी, अलौकिक, अनुपम, दिव्य मूर्ति के इतिहास को सजीव ढग से अंकित किया है। इस ऐतिहासिक रचना से इतिहासविशारद तो बहुत दिनों से परिचित थे। परंतु अप्रकाशित रहने से यह अभी तक सर्वसाधारण जनता के समक्ष न आ पाया था। गत मार्च में मूडबिद्री से प्रसिद्ध अन्वेषक विद्वान् मित्रवर एम० गोविंद पै से मिलने के लिये जब मै मजेश्वर गया तब इस कृति की अपने पास की हस्तलिखित प्रति मुझे दिखलाकर पै जी ने इसे जैन सिद्धात-भास्कर में प्रकाशित करने के लिये मुझसे कहा। प्रति को तो मै ले आया। किंतु पै जी की यह प्रति बहुत अशुद्ध थी। इधर-उधर दो-चार जगह लिखने पर भी जब इसकी दूसरी प्रति नहीं मिली तब गत्यतराभाव से पै जी की प्रति के आधार पर ही भास्कर की गत किरण में 'चरित' के चार पृष्ठ दे दिये गये थे।

चार पृष्ठों के प्रकाशित होने के बाद मालूम हुआ कि सुहृद्वर एच० शेष अय्यंगार मद्रास के पास भी इसकी एक प्रति मौजूद है। तुरत उसे मगाकर मैंने देखा। उसके देखने से ज्ञात हुआ कि यों तो दोनों प्रतिया एक ही आदर्श प्रति की प्रतिलिपिया है, पर अय्यगारजी की प्रति के लेखक पै जी की प्रति के लेखक की अपेक्षा अधिक सुबुद्ध है। इसलिये दोनो के आधार से पूर्व प्रकाशित पृष्ठो को फिर सशोधित कर इस किरण में प्रारम्भ से ही चरित समग्र दे दिया गया है। सशोधन में पर्याप्त परिश्रम किया गया है। फिर भी यत्र-तत्र त्रुटिया रह गई है। ये त्रुटिया किसी शुद्ध प्रति की प्राप्ति के विना नहीं जा सकतीं। इसमें कोष्ठक में जो पाठ दिये गये है वे मेरे है। बल्कि जहा आवश्यक समझा गया है वहा अपनी ओर से कुछ फुटनोट भी लगाये गये है। यों तो साहित्यिक दृष्टि से ग्रंथ उत्तम है। हा, रचयिता ने जहा-तहा यति पर ध्यान नहीं दिया है। एक दो स्थानों में गण दोष भी है। व्याकरण सम्बन्धी भद्दी-भद्दी भूलो पर प्रश्नान्त चिह्न और साधारण भूलों पर आवश्यक टिप्पणिया दे दी गई हैं। ग्रन्थ में कहीं-कहीं बडे सुंदर ढग से अलंकारों का समावेश है। विषय के अनुसार भाषा में प्रसाद गुण का प्रवाह है। इतिहास की दृष्टि से तो ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है ही। बल्कि इसी दृष्टिकोण से इसे भास्कर में स्थान दिया गया है।

अत में मैं प्रतिप्रदान करनेवाले पै जी एव अय्यगार जी को हृदय से धन्यवाद देता हूँ। अय्यंगार जी ने संशोधन में भी मुझे सहायता की है। सशोधन में मुझे और एक विद्वान् मित्र से मदद मिली है। वह है न्या० मा० वेदा० आचार्य पं० कमलाकात जी उपाध्याय। मैं इनका भी आभारी हूँ। श्रीमान् पै जी को मै फिर एकबार धन्यवाद दिये देता हू जिनकी असीम कृपा से यह ऐतिहासिक कृति विज्ञ पाठकों के समक्ष आ सकी। —के० भुजबली शास्त्री

भुजबलिचरितम्

श्रीमोचलक्ष्मीमुखपद्मसूर्यं नाभेयपुत्रं वरदोर्बलीशम् ।
नराद्दिकामं भरतानुजातं तस्य प्रशस्तां सुकथां प्रवक्ष्ये ॥१॥
आनन्त्याकाशमध्ये त्रिजगदनिलत सन्ति[1] तन्मध्यलोके
सन्ति द्वीपाब्धिवृन्दा सद्वलयितो वारदाद्यावृतोऽसौ ।
जम्बूद्वीपोऽस्ति तस्मिन् कनकगिरिवरो भाति तद्दक्षिणस्या-
माशायामस्ति भास्वद्भरतवरुपको मध्यगस्तारशैल ॥२॥
तच्छैलामलपुष्पलिट्पद इव प्रोल्लासमान सदा
गंगासिंधुनदीविभागविलसत्पट्खण्डभूमण्डलम् ।
आर्या (?) खण्ड इति त्रिषष्ठिसुशलाकापूरुषोत्पत्तिनै
मित्तो भात्युपलानथाप्युपनदीभि पञ्चखण्डात्मिका [पञ्चखण्डात्मक] ॥३॥
तत्खण्डपद्म उदग्रदेशा'
तत् कर्णिकाद्राविडनामदेशो भातीह सौभाग्यरथाधिवास ॥४॥
तद्देशलक्ष्मीमुखमण्डलेव भाति प्रशास्ता मधुरा पुरी सा ।
ता रक्षति क्षत्रललामकोऽसौ श्रीराज [च] मल्लक्षितिपाग्रगण्यः ॥५॥
श्रीदेशीयगणाब्धिपूर्णमृगभृच्छ्री [सिंह] नन्दिव्रति
श्रीपादाम्बुजयुग्ममत्तमधुप सम्यक्त्वरत्नाकर ।
श्रीमज्जैनमताब्धिवर्धनसुधासूतिर्महीमण्डले
पौलोमीश्वरवैभवो विजयते श्रीराज [च] मल्लो विभु ॥६॥
आहारादिचतुर्विधोत्तममहादानानुरक्त सदा
सर्वगोदितदिव्यशास्त्रसुकलावाराशिपारगत ।
भास्वज्जैननिवासजैनमयविम्बोद्धारधौरेयको
रंजे सद्गुणभूषणो बुधनुत श्रीराज [च] मल्लो नृप ॥७॥

---

१ बहुवचनश्चिन्तनीयम् ।

अद्रौ रत्नगणायते सुरसरिन्मध्येऽरुणाब्जायते
दिङ्नागव्रजमस्तके रुचिरसिन्दूरायते सम्प्रति ।
दिक्कान्ताकुचमण्डले घसृणसत्पुञ्जायते शौर्यव-
त्वत्तेजो वरराज [च] मल्लनृपते रन्येऽप्य [वन्येष्व] शोकायते ॥८॥

स्नात्वा देवापगायां सुरुचिरविलसच्चन्द्रिकाशुभ्रवस्त्रम्
धृत्वा नक्षत्रमुक्ताभरणममलिनं भूषयित्वा त्रिशुद्धया ।
स्वर्धेनुक्षीरधारादरकुजकुसुमैः पुष्पवृष्टिं करोति
त्वत्कीर्त्तिप्रेयसी.... ... ...श्रीराज [च] मल्लक्षितीन्द्र ॥९॥

त्वन्मूर्त्तिः सुरपादपस्तव भुजस्तज्जातशाखात्मकः[1]
तव करांगुल्यः स्वर्धेनुस्तनाः............
त्वद्बुधावन्यनखांकुरा सुरसुमास्त्वद्वाचि सिद्धोरसः
त्वद्वाक्यं तु सुधैव दानसमये हे राज [च] मल्लप्रभो ॥१०॥

तस्यामात्यशिखामणिस्सकलवित् सम्यक्त्वचूडामणिः
भव्याम्भोजवियन्मणिस्सुजनवन्दिव्रातचिन्तामणिः ।
ब्रह्मक्षत्रियवंशशुक्तिसुमणिः कीर्त्यौघमुक्तामणिः
पादन्यस्तमहीशमस्तकमणिश्चामुण्डभूपाग्रणीः ॥११॥

प्रभातकाले नृपराज [च] मल्लः स्नात्वा च मानादिकसत्क्रियाश्च ।
कृत्वा जिनेन्द्रं परया च भक्त्या स्तुत्वा महालंकृतवान् [महालंकृतिमान्] बभूव ॥१२॥

मणिप्रभामण्डितसिंहपीठेऽप्यास्थानमध्यप्रविभासमाने ।
अतिष्ठदुद्यद्दिवसाधिपोसाविव प्रपूर्वाचलशेखरस्थः ॥१३॥

अमात्यचूडामणिना नृपोऽसौ चामुण्डनाम्ना सह सत्सभायाम् ।
वाचस्पतिव्यक्तसुरेन्द्रशोभां चकार सर्वावसराख्यकायाम् ॥१४॥

कश्चिद्वणिग्वंशललामकोऽस्य प्रविश्य राज्ञश्च सभान्तरालम् ।
महीतलालिङ्गितविग्रहस्सन् प्रणम्य चोवाच कथां सुवार्ताम् ॥१५॥

सदुत्तरस्यां दिशि पौदनाख्या पुरी विभाति त्रिदशाधिपस्य ।
पुरप्रभास्वत्प्रतिबिम्बितादर्शमेव जैनक्षितिमण्डलेऽस्मिन् ॥१६॥

१ अत्र मात्रादोषः ।

तत्पत्तने श्रीभरतेश्वरेणादिनक्षपुत्रेण कुलकरेण ।
राजर्षिणा चादिमचक्रिणा स [सु] निर्मापितं बाहुबलीन्द्रबिम्बम् ॥१७॥
पञ्चसप्ततिविहीनपट्शतप्रोद्धचापममविग्र [हाञ्चि] त ।
चारुबाहुबलिविग्रहश्च कर्केतनोपलविराजितो भुवि ॥१८॥
परपतीव हसतीव सुवाक्य जल्पतीव सदकृत्रिमबिम्बम् ।
तिष्ठतीव वरपौदनपुर्यां भाति बाहुबलिसुप्रतिमाऽसौ ॥१९॥
श्रीगुम्मटाभिनवनामविराजितोऽसौ
श्रीबाहुबल्युरुतरप्रविभासमान ।
श्रीचारुसत्प्रतिकृतिर्नयनद्वयस्य
मूर्त्तीयमानहरिताद्रिरिवोरु [चिह] भाति ॥२०॥
अकृत्रिमार्हत्प्रतिमापि कायोत्सर्गेण भातीव सुकामधेनु ।
चिन्तामणि कल्पकुज पुमानाकृतिं विधत्ते जिनबिम्बमेतत् ॥२१॥
श्रीपादचारुनखजानुमदूरुयुग्म-
नेत्र नितम्बवलिनाभिमुहस्तनच ॥
कण्ठास्यकर्णलसदोष्ठमुनासिकाचि-
भ्रूभालकुन्तलमहो जिनपुगवस्य ॥२२॥
पदादिदोरन्तिमवेष्टिता सद्वल्ली महाबाहुबलेर्जिनस्य ।
आदर्पणार्थं चरमोच्चलक्ष्म्या त्यक्तान्जवल्लीव सदा विभाति ॥२३॥
इत्थ जिनेन्द्रप्रतिमाप्रभाव श्रुत्वातिहृष्टो नृपराज [च] मल्ल ।
चामुण्डरायोऽपि तथातिहृष्ट सम्यक्त्वरत्नाकरपूर्णचन्द्र ॥२४॥
तदा नमस्कृत्य तमेव भूप सभान्तरालात्स्वगृह प्रविश्य ।
तद्वृत्तक मातुरवोचदतच्छ्रुत्वा तदानन्दवती बभूव ॥२५॥
सुतेन सार्धं वरकालिकाम्बा गत्वा जिनाधीशगृह विशुद्ध्या ।
स्तुत्वा जिनेन्द्र स्वगुरोर्गुरुश्च श्रीसिंहनन्द्यार्यमुनिं प्रणम्य ॥२६॥
श्रीभूभृद्राज [च] मल्लप्रनतगुरुरमल सत्तपश्शीलजाल
श्रीमद्देशीगणाम्भोरुहविकसनसामर्थ्यमार्तण्डबिम्ब ।
प्रोद्यद्वादीभसिंह सकलगुणनिधि सर्वशास्त्रस्य कर्ता
रेजे सिद्धान्तवेदी सुरनुतचरण सिंहनन्द्यार्यवर्य ॥२७॥

सन्तप्तसौरभ्यसुवर्णधारा इव प्रपिंगाभतडित्समूहः।
इव प्रपूज्याज्यमहाप्रवाहः श्रीगुम्मटेशस्य विभाति शैले ॥४८॥
श्रीमोक्षलक्ष्मीविलसत्कटाक्षविक्षेपलीलामपहास्यमानाम्।
सत्क्षीरधाराममृतोपमानां जिनस्य मूर्ध्नि प्रचकार भूपः ॥४९॥
अदभ्रभास्वच्छरदभ्रशुभ्रभ्राजिष्णुसत्सान्द्रदधिप्रपूरैः।
श्रीबाहुबल्ल्युद्धतरोत्तमांगे स्नानं चकार क्षितिपः सुभक्त्या ॥५०॥
चतुष्कोणकुम्भस्थसद्वारिपूरैश्चतुस्संघमध्ये जिनेन्द्राभिषेकम्।
चतुस्सागरान्तं सुकीर्त्तिं विकीर्य चतुर्वेदपारंगतोऽखण्डभूपः ॥५१॥
गंधद्रव्यसमन्वितोत्तमलसत्पिष्टातकैर्भासुरैः
लाजाराजिभिरुद्धकुंकुमलसत्कर्पूरसम्मिश्रितैः।
सद्गंधैः स्नपनं रचय्य[1] [विधाय] विलसत्पुष्पौघवृष्टिं ततः
चक्रे बाहुबलीशमस्तकतटे चामुण्डराजाधिपः ॥५२॥
सलिलसुगंधैः सदक्षतकुसुमैर्वरचरुदीपसुधूपफलौघैः।
निरुपमभक्त्या व्यकरोत्पूजां भुजबलिजिनपं नृपकुलतिलकः ॥५३॥
सदर्घ्यैः सुशान्तिप्रधाराप्रवाहैः सुपुष्पाञ्जलिक्षेपकैर्दोर्बलीशम्।
तदा पूजयित्वा नुतिं कारयित्वा[2] सुधन्योऽभवद्भव्यचामुण्डभूपः ॥५४॥
कल्यब्दे (कल्क्यब्दे) षट्शताख्ये विनुतविभवसंवत्सरे मासि चैत्रे
पञ्चम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुम्भलग्ने मनोज्ञे।
सौभाग्याख्यानुयोगे मृगशिर (?) भगणे सुप्रशस्तां चकार
श्रीमच्चामुण्डराजो बेलगुलनगरे गोम्मटेशप्रतिष्ठाम् ॥५५॥
संतेशेवर-दब्बेघट्ट-नविलूरबकाग्रहारानिति
ग्रामान् कग्गेरे-नुग्गिहल्लि-दिड्डगान् कौबेरदिग्वर्तिनः।
धाराशासनपूर्वकं बेलगुलश्रीगुम्मटेशाय तान्
दत्त्वाश्नाति सदा सुरेन्द्रविभवं चामुण्डभूपालकः ॥५६॥
कणकूर-स्थलबाचिहल्लि-दड्डगान् दोड्डाबलं-कंडगं
बरहोन्नावर-मत्तिघट्टहिरियूबेल्लूरु कंभापुरम्।

---

१ उपसर्गपूर्वकत्वाभावात् ल्यप् चिन्तनीयः।
२ अत्र स्वार्थे णिच्।

कलित प्राग्दिशि वैभवाय विदधे श्रीगुम्मटार्हत्पते-
स्तरणीन्दुस्थिरशासनाक्षरयुतान् चामुण्डपृथ्वीश्वर ॥५७॥
किम्केरीस्थल-धर्मनिगल-लसत्कुण्डूरु-सारगि-ना-
मग्रामान् वरसिन्धघट्ट पुर भास्वद्भारतीपत्तनम् ।
याम्याया दिशि चर्तिं शक्रविनुतश्रीगुम्मटार्हत्पते
नित्यश्रीवलिवैभवाय विदधे चामुण्डभूपाग्रणी ॥५८॥
कोणनूरस्थलजन्निवारणरेयूर्णागूरुसिद्धापुरम्
सवणूर्दन्तिततटाकमाधरपुर चाम्पतेर्दिग्युतम् ।
धरणीमण्डलचन्द्रसूर्यनिरतश्रीशासन नेल्गुला
चलभास्वज्जिनगुम्मटाय विदधे चामुण्डधात्रीश्वर ॥५९॥
भास्वद्देशीगणाग्रेसरसुरुचिरसिद्धान्तवन्नेमिचन्द्र-
श्रीपादाग्रे सदा पण्णवतिदशशतद्रव्यभूग्रामवर्यान् ।
दत्त्वा श्रीगुम्मटेशोत्सवतररथनित्यार्चनावैभवाय
श्रीमच्चामुण्डराजो निजपुरमथुरा सजगाम क्षितीश ॥६०॥
सिद्धान्ताम्भोधिचन्द्र प्रणुतपरमदेशीगणाम्भोधिचन्द्र
स्याद्वादाम्भोधिचन्द्र प्रकटितनयनिक्षेपवाराशिचन्द्र ।
एनश्चक्रौघचन्द्र परमतकमलख्यातचन्द्र' प्रशस्तो
जीयाद्ज्ञानाब्धिचन्द्रो मुनिपकुलवियच्चन्द्रमा नेमिचन्द्र ॥६१॥
सिद्धान्तामृतसागर स्वमतिमथक्ष्माभृदोन्मथ्य स-
लेभेऽभीष्टफलप्रदानपि सदा देशीगणाग्रेसर ।
श्रीमद्गुम्मटलब्धिसारविलसत्त्रैलोक्यसारामर-
क्ष्माभृश्रीसुरधेनुचिन्तकमणि श्रीनेमिचन्द्रो मुनि ॥६२॥
श्रीनेमिचन्द्रमुनिना सह कालिकाम्बया सार्द्धमिन्द्रविभवेन पुरीं निजाञ्च[1] ।
भेरीमृदगवरपूरितदिक्तटेन चामुण्डराजनृपति प्रविशत् प्रमोदात्[2] ॥६३॥
श्रीमान् स्वस्य पतिं प्रणम्य नृपतिं श्रीराज [च] मल्ल वदे-
च्छ्रीमत्पोदनपत्तनस्थितमहादेवोऽत्र विन्ध्याचले ।

१ अत्र अक्षरागमोऽपेक्ष्यते । २ परोक्षता ऽमपेक्ष्यते ।

तच्छान्तिं रचयन्नरक्षदमुना षड्दर्शनस्थापना-
चार्यत्वं च परस्य नैव तत्र [भोः] शास्तास्त्यतः पण्मते ॥८०॥

मूलसंघवक्रगच्छकुन्दकुन्दवंशवा-
राशिवर्धमानचन्द्र तावते जनालये ।
अस्त्विवति प्रभापितं नृपेण भक्तितश्च व-
ल्लालजीवरक्षपालकप्रशस्तिता भुवि ॥८१॥

स्वस्तिश्रीमूलसंघांवरगगनमणिः पुस्तकोत्तुंगगच्छ-
प्रख्यातः कुन्दकुन्दान्वयवनधिविधुः पण्मतस्थापनार्यः ।
श्रीमद्देशीगणेशः सकलविबुधचक्रेश्वर सुप्रसिद्धो-
जीयात् स्याद्वादविद्याविभवपरिणतः पण्डिताचार्यवर्यः॥८२॥

वल्लालक्षितिपालजीववररक्षापालकाद्यङ्कमा-
लावर्णाङ्कितसर्वपाठकलसज्जिह्वाशिलाशासन ।
श्रीमद्रायसुराजमुख्यगुरुराड्भूमण्डलाचार्यक
पायात्पण्डितनामधेयविश्रुत श्रीचारुकीर्तिव्रती ॥८३॥

श्रीमत्स्याद्वादविद्याविलसितविजितोदारदुर्वारगर्व-
क्षुभ्यद्वादीन्द्रमत्तद्विरदसमुदय. सर्वशास्त्रप्रवीणः ।
जीयादाचन्द्रतारं सुगुणगणलसद्राज [च] मल्लप्रजेश-
प्रत्यग्रोदग्रमौलिप्रतिफलितपदः पण्डिताचार्यवर्यः ॥८४॥

शान्तिग्रामविभासबूकनतटाकच्छत्रकुन्दूरिति
ग्रामान्द्व्यष्टसहस्रनिष्कजनितान् धाराशिलाशासनान् ।
वल्लालक्षितिपालको वेलुगुलश्रीगुम्मटार्हत्पतेः
नित्याब्दोत्सववैभवाय विदधे श्रीपण्डितार्यान्तिके ॥८५॥

घूर्णज्जैनमताब्धिजातविधुवच्छ्रीनंदिसंघोऽभवत्
सुज्ञानार्थितपोधना· कुवलयानन्दामयूखा इव ।
तत्संघे भुवि देशदेशनिकरे श्रीसुप्रसिद्धे सति
श्रीदेशीयगुरुर्द्वितीयविलसन्नामा बुधैः कथ्यते ॥८६॥

श्रीदेशीयगणामृताब्धिजनिता ज्ञानप्रभामण्डिताः
निर्दोषामरमुख्यरत्ननिकराः स्वच्छान्तरानर्घ्यका· ।

तर्कज्योतिषमन्त्रवादगणितालङ्कारशब्दागम-
छन्दो वैद्यनिघण्टुनाटकमहाशास्त्राणि चक्रुर्भुवि ॥८७॥
श्रीचम्पापुरसुप्रसिद्धनिलमल्लिमहामनाधीश्वरो
भास्वत्पञ्चमहस्त [शुभ्र] मुनितारासङ्कुलैरावृत ।
श्रीदेशीगणवार्द्धिवर्धनकरो भव्यालिहृत्कैरवा-
नन्दो भाति सुगीरनन्दिमुनिचन्द्रो वाक्यचन्द्रातपै. ॥८८॥
श्रीमद्देशीगणाम्भोनिधितुहिनकर पाणिने सूत्रवृत्तिम्
तत्त्वार्थाख्यानसूत्रस्य च निरुपमसङ्क्षिप्त सर्वशास्त्रम् ।
कृत्वा श्रीपादलेपोपचक्रतगतिना प्राग्विदेह प्रयातो-
पश्यत्तीर्थंकरांघ्रि निरुपमचरितो पूज्यपादव्रतीन्द्र' ॥८९॥
श्रीनन्दिसघवरपुस्तकगच्छवृन्दकुन्दान्वयाम्बुधिसुवर्द्धनपूर्णचन्द्र ।
वादीभकुम्भदलनोग्रपटिष्ठसिंहश्रीवादिराजमुनिपो भुवि राजतेऽसौ ॥९०॥
कुन्दकुन्दकुलचारुललामो नन्दिसघसलिलाकरचन्द्र ।
पक्कगच्छवनजातदिनेशो वर्धमानमुनिपश्च विभाति ॥९१॥
कुन्दकुन्दवशवाधिपूर्णचन्द्रचारुदे-
शीगणाभ्रसूर्यवक्रगच्छहर्म्यशेखर ।
नन्दिसघपद्मषण्डराजहस भूतले
त्व जयात्र हेमसेन पण्डितार्य सन्मुने ॥९२॥
महेन्द्रचन्द्रपण्डिता शुभादिकीर्तिपण्डितो-
जिनेन्द्रचन्द्रपण्डित' त्रिरत्नपण्डितो मुनि ॥९४॥
यशस्सुकीर्तिपण्डितस्सुवासनेन्दुपण्डित
स्सुचन्द्रनन्दिपण्डितस्सुवाहुपण्डितो यति ॥९४॥
नृपेन्द्रसेनपण्डितस्सुनन्दिसेनपण्डितो-
महेन्द्रसेनपण्डितस्सुधर्मसेनपण्डित. ॥९५॥
श्रीदेशीगणपालको बुधनुत श्रीनन्दिसघेश्वर'
श्रीशब्दागमतर्कवार्धिहिमगु श्रीकुन्दकुन्दान्वय ।
श्रीचामुण्डनृपालपूजितलसच्छ्रीपादपद्मद्वयो-
जीयात्सोऽजितसेनपण्डितमुनि श्रीवक्रगच्छाधिप ॥९६॥

विषय-सूची

पृष्ठ सं०

परिशिष्ट

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. IX. DECEMBER 1943 No II

Edited by

Prof Hiralal Jain M A LL.B
Prof A. N Upadhye M A, D Litt
Babu Kamata Prasad Jain M R A S
Pt. K Bhujabali Shastri, Vidyabhushana

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
[JAINA SIDDHANTA BHAVANA]
ARRAH BIHAR INDIA

Annual Subscription

Inland Rs 3 Foreign 4s 8d Single Copy Rs 1 8

CONTENTS.

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासन जिनशासनम् ॥ "
[अकलंकदेव]

Vol IX No II | ARRAH (INDIA) | December, 1943

ON THE LATEST PROGRESS OF JAINA AND BUDDHISTIC STUDIES[1]

By

Dr A N Upadhye

There was a time when the Jaina texts were not easily accessible and naturally the writers on Indian philosophy had to satisfy their thirst for a review of Jaina philosophy from the Pūrvapakṣa given in non Jaina works Apparently this method has its defects and we have to correct and clarify our notions in the light of the Jaina texts themselves The atomic theory in the early Jaina texts the relation between Jainism and Sāṁkhya, Jaina epistemology and other topics are touched upon here and there but detailed investigations are still to be carried out. That the Jaina texts supply interesting details in the study of different branches of Indian philosophy is abundantly clear from the discussions of Prof J Sinh (Indian Psychology Perception, London 1934) It is necessary that

1 This forms the concluding portion of the Address delivered by Prof A.N Upadhye as the President of the Prākrit Pāli Ardha māgadhī (Jainism and Buddhism) Section of the Eleventh All India Oriental Conference Hyderabad December 1941

typically representative of the medieval Jaina narrative literature of which ornate Prākrit specimens are found in standard works like the Samarāiccakahā and Mahāvīracariya.

Muni Śrī Nyāyavijayaji in one of those few gifted monks who can fluently compose original works both in Sanskrit and Prākrit. His Ajjhatta-tattāloo (Jamnagar 1938) fully testifies to his grip over the Prākrit expression, and besides gives a vigorous exposition of the pious ideals of life. With its valuable Introduction and useful indices, Pt Bechardas's edition of Rāyapaseṇaiyasutta (Ahmedabad Sam. 1994) fairly surpasses the earlier editions Many Jaina works are known only by their names , and if a careful search in the Jaina Bhaṇḍāras is made, there is every possibility of tracing some of them Varāṅgacarita and its author, though often referred to by earlier authors, had fallen into oblivion But this work has been lately brought to light (Bombay 1938) and also critically studied in the back-ground of Sanskrit literature. Its author Jatāsiṁhanandi flourished about the close of the 7th century A D., and it is one of the early Sanskrit Purānic Kāvyas.

Lately some four works (Nos 41-44) are published by the Jinadattasūri Jñānabhaṇḍāra, Pydhoni, Bombay. The first is the Sāmācāriśatakam which contains Samayasundara's exposition in Sanskrit of one hundred debatable points connected with the mode of life of both monks and house-holders of the Jaina community. The Second is the Kalpalatā commentary on the Kalpasūtra to which Prof. H D Velankar has contributed a learned Indtroduction in English giving an important list of commentaries and glosses (with significant details about their authors and age) on the Kalpasūtra The third is the Gāthāsahasrī of Samayasundara which is an anthology of Sanskrit and Prākrit passages dealing with religious topics Besides a large number of Jaina texts, a few non-Jaina works like the Mahābhārata, Manusmṛti etc., are also quoted There is an introduction in Gujarātī by Mr M. B Jhaveri, and it gives all that we want to know about the author, his works and the contents of the present text. The fourth publication is the Vidhimārgaprapā which presents an able exposition of the duties of laymen and monks especially as

accepted by the Kharataragaccha It contains a good deal of useful information for a student of Jaina literature Various discussions mostly in simple Prākrit prose with occasional quotations from canonical texts, clearly indicate Jinaprabhasūri s depth of learning and facility of expression The text is very well edited by Sri Jina vijayaji who has spared no pains in making the edition worthy of its author The editorial introduction gives a summary of the contents and Sri Nahatas have added a detailed biography of Jina prabhasūri who was not only a deep scholar but also an outstanding personality that weilded good deal of influence on Muhammad Tughluq Recently Prof N V Vaidya has given to us the entire text of Nāyādhammakahāo (Poona 1940) with variant readings in a handy volume

Among the latest Pali and Buddhist publications mention may be made of the Paramatthadipanī of Dhammapāla on the Cariyā-pitaka edited by D L Barua (PTS, London 1939) Saddhammapaj jotikā of Upatissa on the Mahāniddesa Vol II, edited bv A P Buddhadatta (PTS London 1939) Manorathapūranī on the Aṅgut taranikāya Vol 4 ed by H Kopp (PTS London 1940) and Paramatthadīpanī on the Theragāthā Atthakathā, ed by F L Woodward, Vol I (PTS, Londan 1940) With regard to Mahāyāna and Sanskrit texts we have lately La Somme du Grand Vehicle d' Asanga by Etienne Lammotte (Louvain 1939) which is a remarkable contribution to our knowledge of Mahāyāna Buddhism Bruchstucke des Āṭānāṭikasūtra aus dem Zentralascachen Sanskrit Kanon der Buddhisten by H Hoffman (Leipzig 1339) and Gilgit Manuscripts, Buddhist Sk Texts, Vol I by N Dutt Srinagara 1939 As to the translations and other accessories of study we have lately the English translation of Buddhavamsa and Cariyāpiṭaka by Dr B C Law in The Minor Anthologies of Pali canon (Sacred Books of the Buddhists No 9 pt 3 London 1938) and so also Manual of Buddhist Historical Tradition (Saddhammasamgraha) by the same author (Calcutta 1941)

Thr Roman script has decided advantages in reproducing Indo Aryan words in grammatical and linguistic discussions But for an

average Indian student, the Sanskrit or Prākrit texts, printed in continuous roman characters, present a good deal of difficulty for study. Naturally many of our students feel the need of Devanāgari editions of Pāli works published by the PTS The University of Bombay has already started a Devanāgarī Pāli Text Series in which Milindapañho (Bombay 1940) is lately brought forth by Prof. R. D. Vadekar As the first volume of the newly started Bhandarkar Oriental Series Prof. R D Vadekar has edited in Devanāgarī the Pātimokkha (Poona 1939), and the second volume is represented by the sumptuous Devanāgarī edition of the Dhammasangani (Poona 1940) by Dr. P. V Bapat and Prof. Vadekar

It was exactly ten years back that the Singhī Jaina Series was started through the enlightened liberality of Babu Bahaddur Singhji Singhi of Calcutta and the scholarly forethought of Śrī Jinavijayaji Within this short period of a decade, a dozen sumptuous volumes have been published and nearly an equal number of important works is under preparation this success of the Mālā is remarkable and unique Śrī Jinavijayaji is a gifted editor of great experience, and under his general editorship these volumes are prepared to fulfil the needs of critical scholarship, and they meet a real want of Indology. Some of them are fresh additions to the published stock of Indian literature Among the latest publications of the Mālā, I have already referred to the Nyāya works like the Akalanka-granthatrayam etc above. The Prabhāvaka-carita of Prabhācandra is a store house of traditional information about some of the eminent Jaina authors, and its composition too is characterised by some literary flavour The text is critically edited by Śri Jinavijaya himself, and this edition far surpasses the earlier edition (Bombay 1909) with regard to the authenticity and the presentation of the text The four volumes of the Singhi Jain Series, Prabandhacintāmani, Prabandhakośa, Vividhatīrtha-kalpa and Prabhāvaka-carita, present a thesaurus of Jaina tradition carefully and earnestly collected by ancient teachers; and now it is for the critical historian to sort out solid facts and co-ordinate them with corresponding events known from other sources The latest publication in the Series is the Bhānucandracarita of Siddhicandra. It is an unique work in Sanskrit literature. It is not

only a biography of the teacher Bhānucandra but also an autobiography of the pupil Siddhicandra Quite vividly he narrates ' how he became an object of Akbar s filial love, how he stood by the side of his Guru as his co worker in rendering social services how he enjoyed the favour of Jahangira and afterwards fell a victim to his displeasure and finally how he passed through the ordeal for the sake of his vows and religion without being scared away by exile impri onment or death Dalal Smith and others had already touched the topic of the Jaina teachers at the court of Akbar The exhaustive Introduction of this volume, however, completely supersedes earlier discussions Mr M D Desai with his usual indefatigable energy and rare erudition has contributed a solid Introduction in which he has systematically collected a vast range of information that fully depicts the position of Bhānucandra and others in the Mughul court and their literary activities The discussion is so well planned that it serves as a good back ground for the history of Jainism under the two great Mughuls The Praśastis, Farmans and the Appendices have a great documentary value The Bhānucandracarita with its learned Introduction of Mr M D Desai is a distinct addition to the historical chronicles of Sanskrit literature

Despite the financial difficulties the Manikchandra D Jaina Granthamālā has lately published Nyayakumudacandra I II and Mahāpurāna I III which have been already referred to The Ātmānanda Sabhā has issued the Vols 4 and 5 of the Bṛhatkalpasūtra edited by Śri Chaturavijaya and Punyavijaya The Jaina Śāstramālā Kāryālaya Lahore has published some of the canonical texts like the Daśāsrutaskandha, Uttarādhyayana etc with Sankrit chāyā, word for word meaning mūlārtha etc in Hindi in luxurious volumes These may be useful in popularising the canon among the Hindi knowing readers but we would request the editors that the text could be presented more carefully and the interpretations could be offered more critically taking into account the earlier studies The Āvasyakaniryukti dīpikā of Māṇikyasūri is lately published from Bhavanagar The Jaina grantha prakāśa sabhā of Ahmedabad is issuing in an uniform size all the works of Haribhadra the first volume (Ahmedabad 1939) is already out and contains eleven texts

(Nāgarī-pracāriṇī-patrikā. Vols X & XI), has written a comprehensive biography of Mahāvīra in Hindi and it would be published in the next few months Lately Pt. Nathuram Premi, who has been a pioneer researcher, along with Pt. Jugalkishore, in the chronology of especially Digambara works, has put together his studies in a revised form; and his Hindi book, Jaina Sāhitya aura Itihāsa, is a rich mine of information and references.

Buddhism is the professed religion of many countries in the East; naturally the Orientalist has to study Buddhism both in India and outside. The adventures of the spread of Buddhism not only in different parts of India but also of the whole globe are one of the most fascinating branches of Indological study; and the Greater India Society has done much useful work in this respect. Lately some studies are conducted both by way of fresh exploration and survey Space prohibits me from summarising the results in details, so I would just list the important papers. Expansion of Buddhism in India and Abroad (NIA, II. 11, III. 1) by Dr B C Law is a good account of the spread of Buddhism. The influence of Buddhism on Japanese culture is discussed by R. Sandilyan (Young East, Vol 8, No 2). Buddhist influence in Gujarat and Kathiawar is reviewed by Mr A. G. Gadre (Journal of the Gujarat R. Society, Vol. I. No. 4). Jainism on the other hand is mostly confined to India, but no systematic and exhaustive attempt is made to survey its history in different parts of the country excepting perhaps Karnātaka and Gujarata The material being scattered all over India and in different languages of different ages, it is necessary that specialised monographs should be prepared first, according to the locality and the political or literary period, before an all-India Survey of the Jaina church can be confidently attempted. Lately some scholars have directed their attention to this aspect of study, and a few papers have been published. The Jainas in Pudukottai State by K R. Venkat Raman (Journal of Oriental R, Madras, XIII, part 1), Jaina Tradition in Telugu by S. Lakshmipathi Shastri (Annals of Oriental R, Madras Vol IV, part 2), Jaina Religious orders in the Kushan Period by B N Puri (Journal of I. History, XX, Part I, Special Number, April, 1941), Jainism under the Muslim Rule by K. P. Jain (NIA I. 8);

New Studies in South Indian Jainism by B S Rao (Jaina A V, p 147 ff, VI p 66 ff VII p 26 ff) In this connection I might note that Prof Hiralal has lately issued his earlier contributions in a book form viz., Jaina Itihāsaki Pūrvapīṭhikā (Bombay 1939)

Both Jainism and Buddhism have been subjected to various divisions in the church some of them are doctrinal some are social and there are others which owe their origin to differences in the ascetic practices The Jaina Saṃghas, Gaṇas, Gacchas etc, are not fully discussed as yet, though rich material is available in epigraphical and literary records It is a difficult task but dispassionate attempts have to be made Lately Mr K P Jain has written an article on the Digambara and Śvetāmbara Sects of Jainism (Kane Volume, p 228 ff) Good deal is done in this respect in the field of Buddhism, and we have some latest contributions also Buddhist Tantric literature of Bengal by S K De (NIA, I, 1) Doctrines of the Sammitiya School by N K Dutt (IHQ XV, 1) Lalitavistara and Sarvāstivāda by E J Thomas (IHQ XVI, 2) Dārstantika, Sautrāntika and Sarvāstivādin by J Przyluski (IHQ, XVI 2) etc

Between the Pāli and the Ardhamāgadhi canons, the latter is not extensively studied as yet and the material for cultural study therein is arousing interest very lately Prof K P Mitra has very nicely touched various interesting topics such as Crime and Punishment, Magic and Miracle and the reference to Pāndyas in the Jaina literature (IHQ, XV, parts 1 3) Prof H R Kapadia has taken a review of the Jaina system of Education and has drawn upon different branches of Jaina literature (JUB, Vol VIII, part 4) He is also reviewing the whole canon in his Gujarati Ārhata Āgamonu Avalokana (part 1, Surat 1939) Among the Buddhist works the Dhammasaṅgaṇi has been studied afresh by Dr Dutt for a further elucidation of the principal topics and the method of treatment adopted in it (IHQ, XV, part 3) The Brahmacālasutra of Dighāgama has been translated into German by F Weller (Woolner Vol p 260 ff) The Jātakas have been a rich material for sociological study Bhadanta Ananda Kausalyayan has on hand a Hindi translation of the Jātakas, the first volume of which is already out. When

On account of the war, the great curse on humanity, which has plunged the whole of Europe into a fatal feud and is drenching the continent with blood, our relations with our co-workers abroad are severed, and naturally we have not been in touch with their studies, in the last two years, connected with this section. If I have failed to mention any of the important contributions of my colleagues at home, their value is not likely to be detracted by this unfortunate omission, but I feel sorry, and I offer my apologies to them, that I am ignorant of their learned studies due to poor library facilities at my disposal I offer my sincere thanks to you all for the patient hearing that you have given me All of us are working in the field of Indian literature which has evolved and stood as the champion of the highest humanitarian principles in thought, word and deed; and we are meeting here at a critical hour in the human history when the whole civilized world is overcast with clouds of war: so I cannot better conclude than with the prayer of Amitagati:

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

SOME JAINA GURUS IN KANNADA INSCRIPTIONS

By

S Śrikantha Śāstri M A

Guerinot in his *Repertoire d' Epigraphie Jaina* made use of the various archaeological publications for preparing a chronological list of the most important inscriptions mentioning Jaina gurus, donees and patrons with approximate dates and as Dr A N Upādhye* has pointed out there is an urgent necessity to collate systematically the information from Prasastis and inscriptions published since Guerinot's pioneer publication I propose here to give a dynastic and chronological index of names and dates pertaining to Jainism, chiefly culled from *recent* publications of inscriptions in the Kannada country like the Madras Epigraphic Reports (*M E R E*) Mysore Archaeological Reports (*M A R*) Inscriptions of Northern Karnātak and Kolhapur (*N K K I*) Karnātaka Inscriptions (*K I*) etc The dynastic arrangement has been followed and when ever possible the *guruparampara* and exact dates have been given

CHĀLUKYAS OF BĀDĀMI

1 Adūr (Gangi Pāndivūr) Kirti Varma II Jinālaya erected by a Gāmuṇḍa Paralūr Gana Vinayanandi Vāsudēva, Prabhā Śrīpāla, disciple of Prabhācandra of Paralūrcēṭya and (?) son of Dharma Gāvuṇḍa erected the Cētya with consent of Paramēśvara Madhavattiyarasa under Sindarasa governing Pāṇḍivūr (*K I* no 3)

2 Nagarūr dītya Bhaṭāra a caitya given by Toṇḍimānā Muttarasa (?) (*S I I IX* I no 52)

3 Purigere Vijayāditya 20 August, 733, A D Vikki Rānaka at request of one Vijaya gave grant to Sankha Jinālaya at Purigere (*M E R* 1936 E 34 cf *I A* VII p 112)

---

*Presidential Address Prakrit Pali and Ardha Māgadhi Section, Eleventh Oriental Conference Hyderabad 1941

4 Rāni Bennūr: Ś. 781 ..(859 A D.) Nāganandyāchārya of Singhavura Gana Gave land to basadi built by Nāguḷara Pollabbe. (*M E R.* 1934 E No 116.)

RĀSTRAKŪTAS

5. Ālūr : Nityavarsa Ś 854 Pārthiva. (933 A. D. ?) Candiyabbe, wife of Kannara of Sindavādi built basadi to Padmanandi Bhatāra of Nandavura (*S I. I.* IX—I no. 62)

6 Dānavulapādu : Nityavarsa. Jaina image at Kadapa A *Snapana śālā* for śīnti built (*S I. I* IX—I. 63)

7. Bāguli: Nityavarṣa. 972 A D A basadi for Mahēndra dēva Pandita at Mincungere (*S. I. I.* IX—I 71).

8 Dandāpura Prabhūta Varṣa. Ś 840. 918 A D. Grant of marriage incomes by Nanni Vedanga at request of Dhōra for Kannengere. Composed by Ravi Nāga Bhatta and engraved by Śrī Vijaya, (*M. E, R.* E. 1934 63)

9 ... 9th C Candranandi Bhatāra of Paḷḷivaḷḷa Grant composed by Karana Kundamayya sēnabōva of Indara Pittamma. (*M E R.* 1934 E. 95).

10 Bankāpur · Nityavarṣa. 925 A. D. Candraprabha bhatāra in charge of Pasundi and Bankāpura Dhōra Jinālaya Written by Lokayya. (*Bom K I.* I no. 34).

11 Rōna · Akālavarsa Būtuga II in Gangavāḍi His wife Pa(dma)-bbarasi to her basadi and Dānaśālā Dec 23. 950 A. D. Kondakundānvaya, Dēśigaṇa, Mahēndra Pandita

| Vīraṇandi
| Gunacandra.
donee of Mārasingha.

975 A. D. 21 June. Padmanandi Bhatāra. Death of Amṛtabbe Kanti (*M. A. R* 1939. 65).

KADAMBAS.

12. Kogōdū : Nīti Mahārāja. C 1034. A. D Nīti died by sannyasana. (*M.A.R.* 1939. 36)

13 Tumbadēvana Haḷḷi Ereyanga Kādamba Cakrēśvara 27 Oct. 1906 A D, to Dēśigaṇa Ravicandrākhya Sai and Mācavve Ganti (M A R 1939 37)

14 Banavāsi Kadamba Cakravarti Virama (?) Oct. 25 1081 A D To Dēśi gaṇa, Pustaka gaccha Sakala candra Death of his disciple Bhōgavve, wife of Tippi Seṭṭi Satayya (M E R 1936 E. 143)

WESTERN GANGAS

15 Hosakōṭe c p of Avinīta 12 yr Kārtika Śn 15 An arhat dēva yatana built for the merit of the mother of simha Viṣṇu Pallavādhirāja and for his own merit—grant of land near the tank of the village Pulliūr in Korikunda, with śramaṇa kedāra (M A R 1938 1)

NOḶAMBAS

16 Mayindamma to a Basadi and Kamala Prabha Gorava 9 c A D (S I I IX—1 19)

17 Dharma Puri Irūḷcōra To Mangabbe Kanti of Tagaḍūr (S I I IX—1 23) Feb 5 929 A D (S I I IX—1 23)

KALYĀNI CĀLUKYAS

18 Jagadeka Malla 1148 A D Jan 5 or 25 Dec 1147 A D Malla Gāvuṇda of Neralige in Belaliuge to Mallinātha Jinēśvara. Mūla Saṃgha Sūrasthagana Chitrakūṭa Gaccha—Digambara Harinandi (M E R 1934 E. 61)

19-20 Paḍevaḷa Taila and Attimabbe (Bom K I no 52 53)

21 Nandi Bevūr Āhavamalla (Sōmēśvara I) Dec. 24 1054 A D Brāhmaṇas gave to the basadi of Dēśigaṇa Pottage Vaḷi Aṣṭōpavāsi disciple of Viranandi Siddhanti (S I I IX—I 115)

22. Kogali Basti Trailōkyamalla (Somēsvara I) Oct 27 1055 A D Basadi formerly constructed by Durvinita then in charge of Indra kīrti of Kondakundānvaya. Dēśigaṇa ornament of the court of Trailōkya malla S I I IX—I 117)

23 . Indranandi s disciple Vādi Bheruṇḍa Candranandi Paṇḍita of Kantiyara Jinālaya. Grant of chatra by Nolamba Seṭṭi and his wife Padmāvati abbe to the sthāna guru (S I I IX—I 130)

24\. ... 1074 A. D. March. 9. Nāndīśvarāṣṭami. Jayakēśi of Manala Vamśa visited Purigere Permadi Basadi, Tribhuvana candra disciple of Gaṇḍavimukta of Bālātkāra Gaṇa (*M. E. R.* 1936 E 29).

25\. ... 1077 A. D. July 5 Wednesday; April 14. 1078. A. D. Śrīnandi Paṇḍita of Sūrastha gana died by sallekhana at Ane Sajje Basadi of Purikara (1077). His elder brother Bhāskara nandi also died (1078 A.D.). (*M.E.R.* 1936. E. 6)

26\. Maroḷ. Jayasimha II Kamala Dēva Traikāla yogi

|

Vimukta dēva

|

. Siddhānta dēva.

Anṇiya Bhaṭṭāraka

Prabhācandra of...Parṇa vatsala Vamśa.

Anantavirya

... Kīrti dēva of Maravoḷala Basadi under Sattiga's daughter Mahādēvi 1024 A. D. Dec. 24. Grant to Dēvakīrti Paṇḍita disciple of Guna kirti (*Bom. K I.T.* 61) Cf. Ālūr Ins of Vikrama V. Ś 933.(*E. I.* XVI. p. 27).

27\. ... Yāpunīya Samgha ..Śrīvara Traividya dēva

|

Jayakirti.

Nāgacandra Siddhānti·

28\. .... Grant to Nāgcandra on Dec 24. 1029 A D. (*Bom K I.* I—65).

29\. Mugad: Somēśvara I (Yāpunīya) Śrī Kumudigaṇa Śrīkīrti

|

Prabhā and Śaśanka munīndrar.

Their Sahadharmas :

Nayakīrti bratinātha

Ekavīrar

Mahāvīrar

Viśruta kīrti (?)

...ndyācārya

Narēndra Kīrti His disciple Nāga (bi) kkivrati His sahadharmi Niravadya Kīrti Vāsudēva Svāmi Pārśva dēva Svāmi His sadharmas Śubhacandra and Mādha vēndu brati Mādhavēndra s Sadharmi Bālacandra

Rāmacandra
His agra śiṣyas Municandra, Ravikīrti (Dayānidhi ?)

In Niravadya Kīrti s line Gōvardhana Dēva I, his Samapada Anantavīrya who wrote many sat kathā His sahadharma Kumārakīrti his priya śiṣya Dāmanandi his sahadharmi Traividya Cūdāmani, Gōvardhana II his śiṣya mukhya Dāmanandi ganḍavimukta Vaḍḍācāryas of Kumudigana.

Ahavamalla s subordinate Kadamba Caṭṭayya ruling Palasigē 1200, Mahārājavādi Mugunda 30 whose Narga vunḍa Cāvunḍa made Samyaktva Ratnākara Caityālaya in Mugunda for Piriya Gōvardhandēva Ś 966 Pārthiva 1045 A D March 25

Cāvunḍa
Nāgadēva
Mārtanḍa.

constructed a nāṭaka śāla in the basadi built by his muttayya (? on the above date) (*Bom K I* 1 78)

30 Arasibiḍi Akkadēvi at Gōkāge to Hogari gaccha Vīrasēna gaṇa Nāgasēna Panḍita of Goṇada Bedangi Jinālaya of Vikram pura (Arasibiḍi) March 29 1047 A D (*Bom K I* I no 80 *E I* XVII p. 121)

31 Dambal Birayya Seṭṭi built Nagara Jinālaya at Dharmavoḷal 1059 A. D March 28

32. Soraṭūr Sōmēsvara II Baladēva Daṇḍanāyaka, disciple of Nayasēna. Sūrasthagaṇa Citrakūṭānvaya

Candanandi
Sakalacandra.
Dāvaṇandi

Sakalacandra s sahadharmi Kaṇakanandi Saiddhāntika his disciple Sirinandi paravādi śarabhabherunḍa his

disciple Hulliyyabbājjike in Saraṭavura Baladēva Jinālaya. Dec 25 1071 A D. (*Bom K. I* I. 111).

33. Pongunḍa; Rājadhāni Pongunda Arasara Basadi of Sūrasta Gana, Citrakūtānvaya.

Kanakanandi
|
Uttarā (sanga) Bhaṭṭāraka.
|
Bhāskaranandi; his sadharmi
Aruhana nandi, his disciple
Ārya Paṇḍita Dec. 24, 1074 A. D.
(*Bom. K. I* I. 113).

34. Bijapur : Vikrama VI. ? Trailōkyamalla Āyicamayya built Beṇṇūr. basadi at Bennevūr, under Lakkharasa of Banavāsi. Mūla Samgha Candrikāvātavamśa Śantinandi Ś. 988 Parābhava (1066-7 A D.). (*M E R*. 1934 E 113)

35. .... Bijji Seṭṭi established Pārśvanātha at Kannavuri. Kondakundānvaya Mūla Samgha Dēśi Gana Pustaka Gaccha Arhanandi Beṭṭedēva. Dec. 21, 1113 A. D. (*M. E. R.* 1934 E. 117).

36. ... Mūrujāvidēva of Pungere 1088 A D Dec 31 (*M. E. R* 1936 E. 76).

37. Konakonḍla · Jōyima in Sindavādi. Nālikabbe's grant for the merit of her husband to Caṭta Jinālaya [at Kondakundeya tīrtha 1081 A D. Dec. 23. (*S.I.I* IX—I 150).

38. Inscription written by Malliyaṇṇa, chātra of Śri Sarsvati gana 1126 A. D. Dec. 16. Śaiva inscription. (*S I. I.* IX—I. 215).

39. Togarikuṇṭe : Queen Candala's son Kumāra Tailapa in Sindavādi Dan. Kommaṇayya on solar eclipse (no date) to Togarikuṇṭe Basadi of Candraprabha. Ācārya Padmaṇandi Siddhānti's disciple Pra ..tīrthadēva. (*S. I. I.* IX—I. 221).

40. Seram : Tribhuvanamalla yr. 48. Śōbhakṛt Māgha, Śn. 10. monday. Brāhmaṇas of Sēḍimba constructed Brahma

Jinālaya for Śāntinātha and gave it to Prabhācandra Traividya with the land of Lōka Jinālaya of Sēdimba

Maduvagana Virapura tirthādhipati
Prabhācandra Traividya
|
Rāmacandra Traividya
|
Prabhēndu Traividya
(*S I I* VII 723)

41 Bhulōkamalla Brāhmana Barmidēva Vibhu and Sēdimba Vipras made Sāntinātha Basadi to Prabhācandra Traividya Vādibha Kaṇṭhirava
Rāmacandra Traividya
|
Traividya Prabhēndu

42 Puṅgere Indrakirti Paṇḍita of Goggi Basadi and Pergade Malliyanna 1132 A D May 31 (*M E R* 1936 E 48)
Ś 1117 Ānanda Caitra Ba 2 Vaḍḍavāra Tirtha Candraprabha dēva s disciple Peṇḍara Bāci Muttabbe died (*M E R* 1935 E. 14)

43 Henjeru Somēśvara IV Bhōgadēva Cōla in Henjera to Mula Samgha, Dēsigaṇa, Pustaka gaccha
Vīranandi Siddhānta Cakravarti
|
Padma prabhamaladhāri (donee)
Kirtisēna (I 38) (S I I IX—I 278)
Feb 24 1185 A D

Tribhuvana malla (Vikrama VI ?) Kumāra Tailapa in Sindavāḍi. No Date Koṇḍakundānvaya Indra Kirti (?)
Padmaṇandi
Nayakirti dēva

44 Śirasangi Jagadēka malla II Dec. 22 1148 A D Śaiva inscription composed by Kalideva Paṇḍita, guḍḍa of Śrimat Bhuvana candra Siddhānta Dēva (*N K K I* no 24)

KĀLACHURYAS OF KALYĀNI

45 Babānagar Basadi at Kannaḍige to Dēśi gana Māṇikya Bhaṭṭa

raka of Mangalivēda Ś. 1083 Vikrama (1151? A. D) (*M. E. R.* 1934, E. 120)

46, ... Ś 1084 (?) Kīrti Setti in Ponnavatti. Beḷahuge and Benneyūr built Pārśvadēva temple. Pustaka gaccha Maladhārīdēva (*M. E. R.* 1933. 51).

YĀDAVAS OF DĒVAGIRI

47. Puligere: Rājala Dēvi, daughter of Bīcirāja. Her rājaguru Padmasēna of Śrīvijaya Jinālaya at Purikara. Ś. 1169. Plavanga, Jyēstha, Amāvāsya, (*M. E. R.* 1936 E. 9)

48. Kallukere. Ananta Tirthankara established by Mahāpradhāna Malla, Bāca and Pāyi Seṭṭi. Kamalasēna muni. 1243 A D. August 30. (*M. E R.* 1937 E 53), 22. January 1251 A D. to same God. (*M E R* 1937 E 54).

49. ... Krshna. Kulacandra
|
Sakala candra died 6 yr of Krshṇa, Virōdhi, Bhadra, Śu 14 Thursday. (*M E. R.* 1933 E 162)

50 Pūvina Padangili: Kusuma Jinanātha basadi (1 59) Ś 1181, 1258 A. D. (*S I. I* IX. I—371)

51 .. Mahādēva: Nandi Bhattāraka
(9 yr. Vibhava) |
Naya kirti, his disciple Nālprabhu Gangara Sāmanta Sova died by sannyasana at Cengūr. (Havēri Taluk) (*M. E. R.* 1933. E 168).

52. ... Rāmacandra: January 1. 1289 A D. Mādayya, disciple of Samantabhadra Dēva died, (*M. E. R.* 1936 E 72)

RAṬṬAS OF SAUNDATTI.

53. Hannikēri: Jaina inscription in Śiva temple. Kārtivīrya's son Lakshmidēva with his wife in Vēnugrāma to Pārśva Jinēndra Bhavana constructed by Hollana 1209 A. D. 9 Feb
Yāpanīya Kāreyagana Mailapānvaya
Kanakaprabha (jātarūpadharavikhyāta)
|
Śrīdharadēva Traividya.
|
Kanakaprabha pandita in Kūndi
(*N. K. K I.* no. 22 *K. I* I)

54 Rayabāg (Kolhapur Museum) Kārtavirya Ś 500 (?) Bhāva
Mentions Yāpanīya Samgha Mūla Basadi (*KI* I *WKKI*)

55 Badli Ratta Lakṣma Bhūpa Municandra Ś 1141 Pramādhi
Temple of Abhinandana Siddhā (?)
Yāpanīya Kāreyagana Mahāmandalācārya
Mādhava Bhaṭṭāraka
dvinaya Dēva
Kirti bhaṭṭāraka
Jina Dēva
Yāpaniya Kanakaprabha
|
Śrīdhara Traividya (*K I* no 32)

HOYSALAS

56 Viṣnuvardhana For merit of Gangarāja s younger brother (?)
Sōvaṇa to Hādiravāgilu Basadi Nov 16 1121 A D
(*M A R* 1938 38)

57 Kambada halli C 1130 Gangarāja s son Boppa caused Śānti-
śavara Basadi to be made by Ruvāri Drōhagharattācāri
Kanne (*M A R* 1939 66)

58 Dadiga Mariyāne and Bharata built five basadis, four for
Dēśigana and one for Kranūrgana at Dadigana Kere
Kanūrgana Tintrinīgachha
Jāvalige Munibhadra (not candra)
|
Mēghacandra Siddhānti

59 Bhadrabāhu Dec 25 1153 A D (*M A R* 1938 10)

60 Narasimha III 12 March 1271 A D Sōmayyadandanāyaka s
Maiduna Bācayya renovated Honkunda Basadi (near
Halebīdu) (*M A R* 1937 39)

61 Kogali, Rāmanātha To Cenna Pārśva Rāmanātha of Kōgali
Nālprabhu Dēvi Setti gave land Sindaviga Bhadrasēna
Pandita 24 Sep 1276 A D
Kolhāpurasthāna Sāmanta Jinālaya
Kanakanandi
|
Prabhāca (*S I I* IX—1 346 47)

62 Ubhayācārya of Kōgali (*S I I*—I no 360)

63. Varuṇa : Draviḷa Saṃgha, Arumguḷānvaya Śrīpāla.

|
Padmaprabha
|
(putra) Dharmasēna died.
(*M. A. R.* 1940. 43).

64. Kelagere : Narasimha (III ?). Balātkāragaṇa :

Vardhamāna Bhaṭṭāraka.
Srīdharācārya.
Devanandi Traividya.
Vāsupūjya Siddhānti dēva.
Śubhacandra.
Abhayanandi.
Arhanandi.
Dēvacandra Siddhānti.
Kanakacandra Aṣṭōpavāsi.
Nayakīrti
Cāndrāyaṇa Dēva
Ravicandra māsōpavasī.
Hariyanandi Siddhānti
Srutakīrti Traividya.
Vīraṇandi Siddhāntadēva.
Gaṇḍavimukta Nēmicandra.
...māna munīndra
Śrīdharācārya.
Vāsupūjya Traividya.
Udayacandra Siddhānti.
Kumudacandra Dēvara Mā (ghanandi ?)

To Māghanandi Siddhānta Cakravarti of Trikūtaratnatraya Śāntinātha Basadi of Dorasamundra, Narasimha gave a village. (*M A. R.* 1940. 37 cf. Halebid Ins *M A R* 1911. p 49).

65. Bāḍli : Ganga Kandarpa Jinālaya. Under a Hoysala......Kīrti paṇḍita Cikkayya and Dūsiga Pārisa Seṭṭi; mentions Permāḍi Basadi (*K. I.* 29).

66 Mugur Desigana Pustaka gaccha Inganesvara samgha
Bhanukirti
Pandita deva
|
Kana
|
nandi renovated Basadi c. 13 c A D
(*M A R* 1938 57)

67 Desigana Pustaka gaccha, Hagare tirtha pratibaddha Bharata Paṇḍita received a grant from the daugher of Jakkiyabbe 13 c ? (*M A R* 1938 58)

68. Tagaḍur Kondakundanvaya Mula Samgha Naganandi 14 c. A D
|
Anantabhaṭṭaraka
|
Nandibhaṭṭaraka
|
Kanti d ed at Tagadur
(*M A R* 1938 44)

69 Maisunada Saiddhanti deva His priyaguddi Kesavadevi her eldest sister Maradevi died 1384 A D June 5 (*M A R* 1938 36)

70 Belur Bhadrabahu Bhutabali, Puṣpadanta Ekasandhi sumati Akalamka, Vakragriva, Vajranandi, Śimhanandi, Kanaka sena Vadiraja, Śrivijaya Śantideva, Puṣpasena Ajitasena Pandita Kumarasena, Mallisena Maladhari Śrutakirti, Śripala, Sadharma Anantavirya Vasupujyavratindra, Vadiraja, Śripala s disciple Maca Dandanayaka His *vrata* and *Śrutaguru* paravadimalla Vadibhasimha maha mandalacarya Śripala traividya made Adidevara Basadi 1153 A D Dec 25 Hoysala Narasimha gave Nagarahalu Gunasena Pandita mentioned (*M A R* 1938 10)

71 Bogadi Ballala II 1173 A. D 13 Oct Maciraja gave a village to Śrikarana Jinalaya Parsvadeva at Bogavadi Akalamka deva simhasana Padmaprabha svami (*M A R* 1940 29)

VIJAYANAGARA.

72 Rāyadurga : Nandi Samgha Balātkāragaṇa Sārasvatagaccha
Amarakīrti
|
(suta) Māghaṇandi Siddhānti. His disciple Bhōgarāja established Ananta Jina at Rāyadurga. Nov. 20, 1355 A. D. (*S. I. I.* IX—2, 404).

73. Kampa Grant to Mallinātha (Jaina ?) April 15, 1365 A. D. (*S. I. I.* II. 411).

74. Irugappa son of Bayica Daṇḍanāyaka at Celu Mullūr. 1367 A. D. June, 11. (*S I. I.* IX II—412).

75 Cittāmūr (Gingee Taluk) Branch of Śravaṇa Belagoḷa Matha. Ś. 1500. Jagatāpi Gutti Buśśeṭṭi son of Bāyi Seṭṭi of Mahānāgakula. Neminātha of Mylapore established here. (*M. E. R.* 1938. p. 109).

76. [Abhinava Ādisēna Bhaṭṭāraka of Cittamūr maṭha Ś 1787 —V. N 2529. (*M E. R* 1938. 520)]

77. Kurugōdu : Acyuta 1545 A D. Dec., 28 Mahāmaṇḍalēśvara Koṭagāra Rāmarāja Oḍeya's grandson Aliya Lingarāja's elder brother Rāmarājayya for the merit of his father Mallarāja Oḍeya gave grant to Kurigōḍa Basti Jinna dēva Kamme Vaiśya Gōmi Seṭṭi restored the basadi for Padmarasa Pandita of ŚrīMūlasangha, Balātkāragana. A D. 1546 Feb 8. (*S. I. I* IX—2 618)

TUḶUVA BHAIRARASAS

78. Bhatkal : Malli Rāya's nisidhi in Bhattakaḷa 1408 A, D. Oct 29. (*K. I* no 38).

79. Bhairādēvi's nisidhi 1408 A. D, Oct. 27. (*Ibid.* 39)

80 Grants Kāyikini Basadi of Pārśvanātha 1417 A. D Feb 21— Pāyaṇārya established Kāikani caitya

Balātkāragana Sarasvatī Gaccha Vidyānanda Traividya Cakrēśvara (*Ibid* 41)

81 Hāḍuvaḷḷi Mānikyasēna disciple of Jayasēna requested Sanga to allow saltēkhana 1429 A D July 2 (*Ibid* 49)
Sāḷvindra Kṣitipa established Candraprabha and Mānastambha 1484 A D June 13 Paramaguru Pandi tārya of Sangitapura (*Ibid* 65)

82 Mūda Bhatkal Cenna Rāja disciple of Akalamka constructed a caitya his queen Gangānvaya Bhōmini died by sallē khana 1490 A D April 30 dyānandārya Bammana (?) mentioned

83 Mūda Bidre Vēnupura Abhinava Cārukīrti Pandita made Tribhuvana Cūdāmani Caityālaya Ś 1351 Saumya, Māgha, Śu 5 Thursday Mukhamanṭapa on Ś 1373 Prajāpati Vaisākha Śu 7 Thursday (*S I I* VII 196)

84 Anna Sāmanta of Vamśapura Ś 1384 Khara Kārtika Śu 5 Thursday Cārukirti Pandita (*Ibid* 198)

85 S 1409 Parābhava Kārtika Śu 1 Sunday (*Ibid* 199)

86 Ś 1382 Vikrama Phālguna Śu 7 Panditadēva (*Ibid* 200)

87 Bhairava, disciple of Abhinava Cārukirti began the Tribhuvana Cūḍāmani caitya Ś 1351 Saumya Māgha Śu 5 Thursday at Bhallātakīpura Beḷagolapura, Candra gutti Honnāvara Vēṇupura Candra Jina mandira was covered with copper for Vira sēna guru Queen Nāgala established mānastambha (*Ibid* no 202)

88 Ś 1384 Viṣu Puṣya Śu 1 Wednesday Nagire Hire Bhairava very ill Grant to Bidire Candranātha. His younger brothers Bhairarasa and Ambirāya to Beḷagoḷa Panḍita dēva (*Ibid* no 203)

89 Pandita Dēva (*Ibid* No 204)

90 Abhinava Carukīrti and Sārakhēti Bhadradeva, Ś 1454 Nandana Caitra Śu 1 Friday (*Ibid* 205)

91 Paṇḍita Dēva (*Ibid* 206)

92 Bhairādēvi Manṭapa Kṣhēmapura Cārukīrti Sāluva Malla (*Ibid* 207)

93 Carukīrti Panḍita Ś 1368 Durmukhi Māgha Śu 10 Friday (*Ibid* 209)

94. ... Abhinava Cārukīrti; Munibhadra; Sēna gaṇa Vardhamāna. Ś. 1437 Yuva Vaiśākha Śu. 5 Thursday. (*Ibid* 212)

95. ... Cārukīrti Ś 1460. Bahudhānya. Caitra (*Ibid* 214).

96. ... Candra Kīrti died. Balātkāragana Traividya Cakravarti Śrī Pārśvanātha Mahēndrakīrti Dēva ... (*Ibid.* 217).

97. ... Death of Prabhēndu of Dēsi gana (*Ibid.* 216).

98. ... Kulaśēkhara Ālpēndra. Ś 1306. Kali 4484. Cārukīrti of Bidire Basadi (*Ibid* 225).

99. .. Abhinava Cārukīrti. Ś. 1312. Śukla Mithuna. 15, Friday. (*Ibid.* 229).

100. ... Maladhāri Lalitakīrti Ś 1397, Manmatha, Mārgaśira Śu 5. Sunday. (*Ibid.* 242).

101. ... Bhairavarasa. Lalitakīrti's disciple Sāntikīrti, Ś. 1501, Kārtika, Śu 1. Wednesday. (*Ibid.* 243).

102. ... Kārkaḷa Kumāra Pāṇḍyappa Odeya. Lalitakirti Ś 1514, Vijaya. Bhādrapada Śu. 3. Sunday.

113. ... Panaśōkāvaliśvara Dēśi Gana Maladhāri Lalitakīrti's disciple Abhinava Paṇḍya of Humca. Ś. 1379, Iśvara, Kārtika Śu. 1. Wednesday. (*Ibid.* 246).

104. .... Rāya Jiva Rakṣāpāla Ballāla rāya citta camatkāra Cārukirti Pandita His disciple Lokanātha Dēvarasa of Humca Ś 1256. Bhāva, Phālguna Śu. 5 Wednesday.

105. ... Tribhuvana vidyācakravarti Madhyānha Kalpa vrksa Vādībhavajrāmkuśa Kānur gana Bhānukirti maladhāri. His agraśisya Kumudacandra in Karkala Śāntinātha basadi. (*Ibid* 247)

106. ... Pāṇḍya, son of Bhairavarāja and Candalāmbā constructed Caturbhadra Basti. Dēsigaṇa Parasāravalīsvara Lalitakīrti. Ś. 1467. Krōdhi, Magha, Śu. 4. Sunday. (*Ibid* 248).

107. Vēnūr: Cārukirti's disciple Vīra Timmarāja Oḍeya Ajila's wife constructed Cendanātha Jinālaya to the left of Yenur Gummaṭa. Ś 1526 Śobhakṛt, Mina. 2. Sundy (*Ibid* 251).

108. ... The chief constructed on right side Śāntinātha temple on same date. (*Ibid* 252).

109 Lalitakirti Ś 1544 Durmati, Kārtika Śu 1 Sthiravāra (*Ibid* 255)

110 Lalitakirti Ś 1459 Hēmaḷambi, Kārtika Śu 10 Sunday. His disciple Sālva Pāṇḍya dēva Ajila (*Ibid* 256)

111 Mulki Mānastambha inscription (*Ibid* 260)

112 Abhinava Cārukīrti Ś 1464 Śubhakṛt Simha 13, Sunday Kinnika Sāmanta s aḷiya Dugganna Sāmanta (*Ibid* 262)

113 Cārukirti Paṇḍita Ś 1421 Siddhārthi Māgha Śu 1 (*Ibid* 369)

114 Nisidi of Kīrtibhattāraka of Kālōgragana S 1314 Prajāpati Caitra Śu 8 Tuesday (*Ibid* 370)

115 Abhinava Caritadēva s grant tō a basadi, under Rājaśekhara of Vijayanagara Ś 1390 Sarwadhāri Magha Śu 1 Monday (*Ibid* 371)

116 Bārakur Harihara Sarvappa Daṇḍanāyaka s grant to Pārśava nātha of Murukēri Basadi at Bārakūr Ś 1312 Śukla Vṛṣabha māsa (*Ibid* 391)

117 Penukoṇḍa Nisidi of Nāgāyi guddi of Mahāsākala vidvajjana Cakravarti Śri Dharma bhūsana Bhāttāraka (*Ibid* 576)

HARATI CHIEFS

118 Harati Rāyappa granted a village to Ratnagiri basadi renovated by Lakṣmīsēna (Contemporary of Dēva Rāja Odeyar *E C* IV *Nāgamangala* 43) 1680 A D Sep 7

Samantabhadra
|
Virasēna
|
Lakṣmisēna (*M A R* 1939 62)

MISCELLANEOUS

119 Padmanandi Bhaṭāra. Death of Amṛtabbe Kanti 975 A D June. 21 (*M A R* 1939 65)

120 Kolhapur Pillar Inscription (*N K K* I no 1)

THE CONTRIBUTION OF JAINISM TO WORLD CULTURE

A Chakravarati

History of Jainism : The year 527 B C., the date of Mahāvīra's Nirvāna, is a landmark in Indian History. We may say that an accurate knowledge of Indian History begins with the date of Mahāvīra's Nirvāṇa. Mahāvīra was an elder contemporary of Gautama Buddha He was also the contemporary and a relation of Śrenika Bimbasāra who was the king of Magadha with the capital of Rājagriha People whose knowledge of Indian history is derived from old Sinclair's school history of India have got extremely erroneous notions about Jainism and its relationship to the other faiths in India. Sinclair because of inadequate knowledge gave currency to untruths and errors such as "Jainism is an offshoot of Hinduism and Buddhism and that Mahāvīra was the founder of Jainism." It is extremely unfortunate that even after accurate knowledge is obtained by oriental scholars and made available to the public, these erroneous views are prevalent among the educated Indians even now We have only to state that Mahāvīra was the last and the 24th of a series of Tīrthankaras who were supposed to be the custodians of Jaina doctrines Oriental scholars have now definitely accepted that Mahāvīra was not the founder, but he was only a reviver of a Faith that existed even before him The 23rd Tīrthankara, Lord Pārśvanātha, who lived a couple of centuries prior to Vardhamāna Mahāvīra, is generally recognised now to be a historical personage Even the 22nd Tīrthankara, Arishta Nemi is considered to be a historical personage This Arishta Nemi was a cousin of Śrī Krishṇa of Mahābhārata fame. Though he was the heir to the kingdom of the Harivaṁśas, he renounced the kingdom as a youth even before marriage and adopted asceticism as Gautama Buddha and Mahāvīra did long after him. His place of Nirvāna at Mount Girnar in Junagad state is still a place of pilgrimage for the Jains Krishna's age as also the age of Mahābhāraṭa war is supposed to be the beginning of Kaliyuga. Therefore Arishṭa Nemi who was a cousin of Śrī Krishna must be in the beginning of

the Kaliyuga If Śrī Krishṇa is admitted to be a historical personality there is no reason why the same should not be said about Arishṭa Nemi Further, Arishta Nemi is mentioned in some of the Rigvedic hymns as one of the important Rishis Hence, the Jaina *tradition* and the non Jaina *tradition seem to* accept the historicity of Arishṭa Nemi Hence, it would not be altogether an improbable thing to suppose that the Ahimsā doctrine must have been prevalent even at the time of Arishṭa Nemi who is assigned to the beginning of Kaliyuga To go beyond that would be to cross the border of history and to enter into pre-historic period whose events cannot be clearly vouchsafed for But we have to go to the beginning of Jainism according to the Jaina tradition to the age of Lord Rishabha Lord Rishabha is considered to be first of the Tīrthankaras He is placed almost in the Kritayuga according to the Jaina tradition He is supposed to be the last of the Manus and the first of the Jinas We have very interesting account of this period

Just prior to his appearance in the world the people were living in a golden age where they had everything necessary for life provided for them by Kalpaka *vrikshas* The earth itself was surrounded by a sort of luminous atmosphere shedding light over the the surface of the earth and preventing a view of the heavenly bodies Sun, Moon and Stars About the time of Rishabha all these things disappeared Heavenly bodies were seen by the people giving rise to succession of night and day Kalpaka trees disappeared throwing the people into a consternation not knowing how to live Under these circumstances, Rishabha is said to have instructed the people to get on with different professions such as agriculture and trade and taught them how to live at peace He also explained to them the significance of the appearance of the Sun the Moon and other heavenly bodies so that their novelty need not be a source of fear to the people Because of this work of social organisation leading to the settled life of people occupied in different vocations Lord Rishabha is very often described as a Creator of the world in the sense of Socio-economic foundation After ruling over the land for several years he renounced the kingdom in favour of his son Bharata after whom the land is called Bharata khanḍa and went to perform

Tapas. After obtaining Sravajñahood or Omniscience, he spent several years in preaching the Dharma to the people, and finally obtaining Nirvāṇa on Mount Kailāsa which is a sacred place according to the Jainas For this achievement Lord Rishaba is designated as Ādi Jina, Ādi Bhagavān, Ādi Īśvara, Yogīśvara, Mahā Yogi and such other names of adoration. For this cycle of time, therefore, Lord Rishabha is considered to be the first to preach Ahimsā Dharma and to lay the foundation of Jainism. We need not repeat the fact that this would take us to a far distant pre-historic period whose date cannot be accurately determined.

Here, it would not be altogether inappropriate to mention the fact that the story of Lord Rishabha, in almost identical words, is described in Bhāgavata Purāṇa and Vishnu Purāna of the Hindus. There also, long long prior to the period of Avatāras, Vishnu, in order to satisfy the request of Nābhi Rāja, was born as his son, Rishabha. In this Purānic account also, Lord Rishabha after reigning over his kingdom for sometime, abdicates the throne in favour of his son, Bharata, and retires into a forest to perform Yoga. There also, he is mentioned to have preached the Ahimsā Dharma and Yoga practice But, according to the Purānic account, this new wisdom was not understood and appreciated by the people at large who mistook him as a madman, bringing in unintelligible innovations This lack of appreciation given currency in the Purāṇic story may be explained as a result of unsympathetic attitude of the non-Jain author of Purānas. From these accounts, Jaina and non-Jaina, it would not be altogether improbable hypothesis to suggest that long before the so-called period of Avatāras, a sort of religious cult associated with Lord Vrishabha and based upon Ahimsā Dharma must have been prevalent in India. Though Lord Rishabha's activities were associated with Northern India, it may be safely asserted that his cult was prevalent probably throughout India and beyond. The ground for such a statement is the account of the rise of the Vidyādharas according to Jaina traditions. When Lord Rishabha abdicated his kingdom in favour of his son, he portioned out the country to his descendants before adopting Tapas He forgot to assign any territories to Nami and Vinami, two junior members of

much opposition between the so called Rākshasas of the South and Āryan invaders of the north and why the Āryan Rishis had to obtain armed help for the conduct of their Vedic sacrifices as a protection against the interference by the Rākshasas ? Taking an impartial view of these Jaina Traditions, it would not be altogether wrong to suggest that throughout India there was prevalent the Rishabha cult of Ahimsā, not only in the North India but also in the South That the Rishabha cult had been prevalent in North India long before the Āryan invasion is supported by the archeological research at Mohenjodaro and Harappa The objects found there clearly point out the existence of culture and civilisation introduced by Lord Rishabha, the Mahāyogi. The abundance of the symbols of the Bull and the figures of Yogi is a clear evidence of that nature of the culture prevalent in that region This may represent an indigenous culture or the culture of an earlisr tribe of foreigners who came to India. The question may be left open

Confining ourselves to South India, we may assert without contradiction that the Rishabha cult must have been prevalent here long before the origin of Purānic Hinduism which supplanted Jainism in the South. Probably, the Śaivite cult of the later Purānic age is a corrupt modification of the Rishabha cult of the earlier age According to the Jaina Tradition, the symbol or Lāñchana for Lord Rishabha is the Bull which according to Jaina Iconography is found inscribed even now in the 'pītha' on which the Idol of Rishabha is put up Rishabha Lāñchana, mark of the bull, carved in the pedestel on which Rishabha's idol is situated may easily be mistaken for Rishabha-vāhana, and the God above may be mistaken easily as Rishabha, Rudra or Śiva Curiously, the term "Śiva" is one of the names of Lord Rishabha and we have already mentioned that Mount Kailāsa was the place of Nirvāna of Lord Rishabha. We may also mention here that according to the Jaina Tradition, the day of the year which is called Śivarātri now-a-days is Parinirvāna day of Lord Rishabha. Hence, Śivarātri is an important festival for the Jainas who celebrate the Nirvāṇa day of Rishabha, just as Dipāvali, the Nirvāna day of Mahāvira Vardhamāna Strangely, both these days are celebrated by the non-Jain Hindus also who invented different stories for their

celebrations When we take these facts intoconsideration, it is obviously quite easy to change Rishabha cult of Ahimsā to the Śaivite cult of Rudra Śiva of the later day But it is a deplorable thing that this change introduced an extremely regrettable form of religion In place of Lord Rishabha the earlier Siva who was Sarva Jiva Dayāpara, we have a Kapali Siva with a skull borne in his hand which is said to be drippling with blood At one stroke the Ahimsa Rishabha cult is converted into a cult of Himsā giving sanction to Vedic sacrifice involving slaughter of animals This introduction of Kapalic cult in the South is associated with the Hindu Revivalistic period of Thevara hymns, when a terrible religious animosity sprang up between the Hindu Revivalist and the older representatives of South Indian Culture the Śramanas Any impartial reading of the Thevara hymns will bring out the fact that the Hindu opposition was mainly due to the condemnation by Jainas of the Vedic sacrifice involving slaughter of animals

The above account of prevalence of Jainism in the whole of India would naturally imply the rejection of the theory that Jainism was introduced in the South about the time of Chandragupta Maurya who with his Guru Bhadrabāhu the head of the Jaina Sangha migrated to the South to escape from horrors of a terrible famine in Northern India about 3 centuries prior to the Christian era This short account will give an idea of the antiquity of the Jaina Faith in India We may also mention another fact which is borne out by Vedic literature The people who were dwelling in the countries of the Ganges valley such as Kāśi Kosala Videha and Magadha, though of Āryan origin had fundamental differences in their Faith and social values from the Kurupānchala Āryans They were condemned by the more orthodox western Āryans because they were deadly opposed to animal sacrifice and were preaching the philosophy of the Ātman as more important aspect of Dharma than the Dharma associated with the Yajña. The group of philosophical literature under the name Upanishads has sprung from the Kshatriya heroes of the Gangetic valley to whom also belong the founder of Buddhism, Gautama Buddha, and also the last of Tirthaṅkaras, Mahāvira Vardhamāna. Oriental scholars are generally of the opinion

that the Aryans who settled down in Indus Valley came later into India and pushed earlier Āryans who were living there towards the East. The theory of two different waves of invasions of Āryans not only implies two political groups but also two different cultural groups. The former group of Āryans according to our theory were the followers of Ahiṁsā doctrines associated with Jainism which probably was responsible for the springing up of Upanishads, a new ātman cult accepted by the Āryans of the Gangetic valley and which pushed to the background as inferior and unimportant the cult of Vedic sacrifice. Rishabha Deva according to the traditional account belongs to this group of Āryans. the tribe of Ikshāvaku is referred to in Rigvedic literature as an ancient tribe. Therefore, by the time the Āryans of the Indus valley composed their hymns, these Ikshvākus of which tribe Lord Rishabha was the greatest hero was considered an ancient clan and almost forgotten All these facts go to support our theory that even before the advent of the Āryans and the Vedic hymns, there was an Āryan group in India from the Himalayas in the North to the island of Cylon in the South and who were characterised by an entirely different culture and civilisation mainly opposed to the other Āryan cult of Vedic sacrifice In a later period of medieval India, the later Āryan cult characterised by Vedic Secrifice had a predominant influence and eclipsed completely the earlier Āryan cult associated with Lord Rishabha and characterised by the doctrine of Ahiṁsā This domination of Vedic culture may be seen even in present day India as the main characteristic of Hindu Faith Though the later revivalist cult of Hinduism successfully crushed out of India the Buddhism and completely subordinated Jainism, both being based upon Ahiṁsā doctrine, the revivalist Hindu cult of South India still retains important marks associated with the previous Ahiṁsā cult The very word "Śaivam" in Tamil parlance means strict vegetarianism. The temple worship in the form of the worshipping the god with the flower instead of by sacrificing animals is also a characteristic of the earlier Ahiṁsā form of religion ; Śaivism though modified and degraded by the influence of Kāpālikas still retains essential characteristics of the earlier Rishabha cult which was the foundation of South Indian Religion

Not only the Kāpālika faith had its influence on the older Ahimsā cult but also the śaktaism left its indelible mark on the earlier faith Lord Rishabha who was Yogiśvara was given a wife and made a householder Śakti the wife of Rudra Śiva with a garland of skull bones is consistent with Śiva the Kāpālika The old lord who was Sarvajiva dayāpara the 'Aravashi andanan the symbol of har mony of love and peace was made at one stroke Rudra, the terrible destroyer of the Universe This may be enough for the historical survey of Jainism in South India

JAINISM AS HIGHLY DEMOCRATIC IN ITS SOCIAL ORGANI SATION AND HIGHLY RATIONALISTIC IN ITS PHILOSOPHY AND RELIGION

The introduction of the Purānic Hindu cult of the revivalists not only brought in such deplorable change in the religious ideal but also brought in equally deplorable change in the social organisation According to Jainism there was no Varnāsrama Dharma as is asso ciated with Purānic Hinduism Lord Rishabha, when he organised the society on functional basis of trade, agriculture and defence, did not introduce the sect of Brahmins Bharata Lord Rishabha s son and successor to the kingdom, felt the necessity of creating a new group of people to look after religious worship and *propagation* of higher Dharma How he created the Brahmin group is an interesting study He devised a method of selecting the best men in the society who would pay unswerving loyalty to Ahimsā Dharma and these were called Brahmins not by birth but because of quali fication and they were ordained to be the custodians of religious ceremonies and the propagation of religious Dharma Thus the differentiation in social organisation according to Jainism is entirely due to qualification and not to birth Even a low born Chāndāla, if he had necessary qualification, had the chance of being considered the highest in society That such was the organisation of society in the South is borne out by Tamil literature Ancient Tamil literature has two distinct words, one to designate the Brahmin by birth and the other to designate the Brahmin by [illegible] The former is

always referred to as *Parpan* and the latter because of his loyalty to Ahiṁsā Faith is called *Andanar.* The definition in Kural of an Andanar as one who is of the Ahiṁsā Faith and who is characterised by his love and sympathy to all living creatures is an evidence in support of this view The social organisation based upon culture and qualification has at one stroke been converted to the Varnāśrama Dharma claiming superiority merely on the ground of birth. Thus South India not only lost its noble religion of Ahiṁsā but also lost its democratic organisation of society and instead voluntarily submitted to a form of social slavery from which it has not been able to liberate itself in spite of strenuous efforts made by it in recent years The revivalists introduced a form of social serfdom in place of the noble social democracy of the earlier days In this connection it will not be out of place to mention that the Tamil term "Aram" which is considered to be a translation of the Sanskrit term Dharma has nothing to do with *Varnāśrama,* which is the only meaning of the term Dharma in Hindu Dharma Śāstra

RATIONALISTIC PHILOSOPHY IN RELIGION

An impartial study of Jaina literature relating to philosophy and religion reveals the important characteristics of its rationalism. In this respect it may be said to be diametrically opposed to the Purānic Hinduism. Though it is opposed to Purānic Hinduism yet it is very closely allied to the earlier *Darśanas* such as Sānkhya, Yoga, Pūrva Mīmāmsā and Vedānta The philosophic Darśanas of early Hindu faith the systematisation of which must be placed just after the period of the Upanishads have a good deal in common with Jaina philosophy The so-called orthodox six Darśanas agree with Jainism in one important fact, that the Ultimate Reality of Cosmos was always permanently existing, uncreated and indestructible The story of creation as is associated with Semitic relgions such as of the Jews, Muhammadans and the Christians has no place in Indian thought. Creation of the world out of nothing by the will of the creator is entirely a non-Indian concept Even the Hindu Darśanas such as Nyāya and Vaiśeshika which speak of an Īśvara

or the Creator admit the existence of Jivas and Paramāṇus or atoms of matter, the living and non living elements as eternal and uncreated Out of these existing materials Īśvara is supposed to fashion out living beings by bringing together the already existing life and matter Sāṅkhya Darśana and Pūrva Mīmāṃsā utterly ridicule the idea of a creator and reject the creating theory wholly Vedānta Darśana in all its forms adopts a similar attitude in rejecting the creation theory It favours the theory of manifestation according to which the world is a result of a manifestation of an already existing reality a process of evolution from a reality which is parmanent, eternal and uncreated Jainism does the same thing It rejects creation theory in toto and it does not accept an Īśvara as a creator of the world and life Though it agrees with the other Darśanas in this fundamental doctrine the Purānic Hinduism which developed a sort of religious animosity against Jains condemned Jainism as atheistic or the Nāstikas because of its rejection of the creation theory To an impartial student of the history of religions in India it must appear that all the Darsanas irrespective of the difference of orthodox or Heterodox must be Nastika Darśanas according to the criterian of the creation theory Hence a condemnation due to religious enmity, need not be considered as of any great philosophical importance, for one knows fully well that Jainism has this as a common ground with the other Darsanas of Indian thought

THE CONSTITUTION OF REALITY ACCORDING TO JAINA PHILOSOPHY

Reality according to Jaina philosophy is of complex structure. It always embodies in itself various characteristics some of which may be opposed to one another An exact parallel to it in modern thought is the biological concept of Metabolism Modern biology traces living organism to the fundamental biological concept of meta bolism which consists of two opposite processes, Anabolism and Catabolism the process of breaking up and process of building up held together by a synthetic process of equilibrium which wholly comes under the designation of Netabolism In non scientific language this may be described thus that the living process is a

combination of alternative processes of birth and death the equilibrium between which is maintained by a life process itself Disintegration is necessary for the release of energy for life, integration is neeessary for building up latent energy, and maintenance of a suitable equilibrium between the both is absolutely necessary for continuance of life. This is taken as a symbol of reality by Jaina philosophers and has been extended to the whole realm of reality Everywhere we have as an object which embodies in itself two opposite processes of breaking up and building up, appearance and disappearance, through an underlying persistent reality which guarantees the permanence of the world. We may find an illustration of this concept throughout the botanical and zoological kingdoms Take the case of the life of a plant It begins with a seed. The seed must change if it is to sprout out into a plant. If it remains permanently as a seed it will cease to germinate and die, i.e., it will cease to be a seed Thus a seed must die and yield place to sprouting plant. Similarly the sprouting plant must shed leaves if it is to continue as a living organism till it grows into huge tree with fruits and flowers. At every stage it must lose its old self and grow into a new self thus alternating its life with birth and death, appearance and disappearance, through a continued existence This concept of reality is variously described in modern thought as unity in multiplicity, identity in the midst of difference, permanency in midst of change. In western thought such a concept is associated with Hegel, the German philosopher, whose dialectic concept implies two opposite processes of thesis and antithesis both combined by synthesis. Thus in popular language reality may be said to be a combination of opposites.

This concept of reality which is the foundation of Jaina philosophy is technically known as Anekāntavāda, multisided reality Jaina philosophers themselves adopting Anekāntavāda concept of reality criticise and reject all the other schools of thought as Ekāntavādins, philosophers who mainly stick to one particular aspect of reality to neglect of the other aspects. Thus the Vedāntin who speaks of an unchanging permanent reality and who dismisses all the changes as unreal is an Ekāntavādin according to Jainism If as is claimed by

the Vedāntin reality is an unchanging permanency there is no scope for life, no scope for Samsāra no necessity for Moksha, or Moksha mārga The whole religious framework will thus appear to be superfluous and useless as it is based upon unreality Change must be accepted as real if life is to be real and if Samsāra is accepted to be as real It is only then that we can appreciate the utility of religion, and religious doctrines contributing to salvation of the soul Similarly onesided is the Buddhistic emphasis of change alone as real According to its Kshanikavāda, momentariness of reality, a permanent underlying reality is denied altogether Both the self as well as the outside world is analysed into momentary ephemeral elements coming and going in a series without implying an underlying reality of self or non self Hence Buddhistic philosophy is known as Anātma Vāda, a doctrine that does not recognise the existence of a permanent self or ātman This philosophy is also condemned by the Jainas as an Ekānta Vāda of an opposite type If the world consisted of merely ephemeral elements coming and going in a series it cannot accommodate a religious philosophy contemplated by Buddhism Since there is no permanent self, there is no responsible person who can be taken to be the author of his conduct Moral conduct and its evolution would become meaningless The person who did the act passes away and a different person comes to enjoy the fruits thereof There is no justification why a different personality should enjoy the fruits of the Karma by another distinct personality Ethical responsibility loses its meaning and value in this Anātmavāda Thus the Jaina philosophy combines in its own system both the aspects and describes reality as an ever changing one with its permanent reality as foundation The self according to Jainism is thus *not only* a permanent reality but a permanent reality which maintains its permanency through a continuous process of change and may for a certain other purpose emphasise changes But a complete comprehension of reality must take into consideration both these opposing aspects In other view it will be incomplete and partial Hence Ekāntavāda implies a partial aspect of reality whereas Anekāntavāda implies a complete comprehension of reality in toto

To be Continued

Editorial Note.*

It seems that the learned writer has written this article on the authority of the Śvetāmbara Jaina canonical books only and so it narrates the Śvetāmbara view. The Digambara tradition is quite different from it; and the canonical books of the Digambaras were recorded in black and white by Yativrasabha, Bhūtabali and Puṣpsdanta long before Devardhigani Kṣmāśramana, who recorded the Śvetāmbara Angas at Vallabhi in the sixth century A. C. The Digambaras differ in respect of the life stories of both the Tîrthankaras; i e. Pārśva and Mahāvira. They say that like all other Tîrthankras Pārśva and Mahāvira also adopted the vows of a Śramana in naked state and as ascetics they never wore clothes Pārśva and his disciples observed the vows of conduct in the form of the Sāmāyika-cāritra; but Mahāvîra, however, propogated the rules of conduct according to the Chhedopasthāpanā-cāritra (See Mûlācāra 7/32). Mahāvîra was a celibate all through of his life. He was married never and had no progeny. The Digambara tradition is not akin with the Śvetāmbaras in naming a brother of Mahāvîra by name Nandivardhana and it is obscure to name any schism in the Jaina Church during the life time of Mahāvîra According to the Digambaras, Mahāvîra's embryo was never replaced in the womb of Triśalā from that of Brāhmani Devanandā. It looks absurd in the face of the assertion of the "Kalpasūtra" that the Tîrthankaras are ever born in the noble families of the Ksatriyas, that Mahāvîra was an exception to this eternal law of the Karma theory. It seems an innovation by the Śvetāmbaras in order to gain votaries from amongst the Vaisanavas, to whom the God of Progeny (Naigmeṣa) belongs originally. (J. A. III, 83—92) Likewise the life story of Mahāvîra as narrated by the Śvetāmbaras, betray the influence of the Buddhists and it seems most probable that in order to win over the Buddhist Rulers of Vallabhi and to give an ancient appearance to their canonical Books the Śvetambaras borrowed much from the Pāli Pitakas of the Buddhists[1]. Hieun Tsang, who visited India nearabout the period when Devardhigani Ksamāśramana

* See Vol IX, No I, P 32

1 .. *Buhler*, Indian Sect of the Jainas, p & Cambridge Hist of India, I pp

recorded and arranged the Śvetambara conons brought a similar charge against the Śvetambaras[1] It seems the reason for the close resemblance of the life stories of Gotama Buddha and Mahāvira narrated by the Śvetāmbaras Moreover there is a tradition among the Śvetambaras themselves that along with other four Tīrthankaras Mahavīra was also a celibate all through his life[2] In their more ancient portion of Acārānga-Sūtra where the life of Mahāvīra is narrated, there is no mention of marriage etc of Mahāvīra If it was a fact, the Digambaras would have gladly narrated it, since it has no dogmatical influence on either side

The Digambara tradition about the nudity of asectic Tīrthankara Pārśva is corroborated by the evidence of the Buddhist canonical books and epigraphical one as well In whole of the Buddhist litera ture the Jaina ascetics (Nirgranthas) are described as naked monks[3] These notices refer not only to the Niganṭha Samanas of the Order of Mahāvira but indirectly they describe the pre Mahāvira Niganṭha samanas as naked as well For it is said in the Mahāvagga (I 70, 3) —

"At that time the Bhikkus cenferred the *upasampadā* ordination on persons that had neither alms bowl nor robes They went out for alms naked and (received alms) with their hands People were annoyed, murmured and became angry saying Like the Tithiyas, etc." (Vinaya Texts S B E XIII, 223)

---

1 The Chinese traveller in describing his Ketas (Sinhapur) writes Not *far from the tope was the place at which the founder of the* 'white clothes (Śvetapata) sect having come to realize in thought the principles for which he had been seeking first preached his system The disciples [of the foun der of the white clothes sect] practise austerities persevering day and night without any realisation The system which their founder preached *was largely taken from the doctrines of the Buddhist canon* "

—*Watters* Yuan Chwang, Vol I pp 251—252

2 It is clearly stated in the Āvaśyaka—Niryukti of the Śvetambaras that Mahāvīra adopted the vows of a Śramaṇa without undergoing the ceremonies of marriage and coronation during his life. (नय इत्थि अभिसेया कुमारवासंमि पव्वइया)

3 Kane Presentation volume (Poona) pp 228—229

These *Titthiyas* were, no doubt, the non-Buddhistic monks, belonging to older orders than those of Mahāvira and Buddha[1] and the description of them as given above, coincides exactly with that of Digambar Jaina monks Hence Rev. Dr Stevenson is right in assuming the use of the term 'Titthiya' in the sense of the Jainas[2] Thus it goes to prove that the monks of the Order of Pārśva lived naked. Likewise the images of Pārśva found at Mathurā bearing inscriptions of the Śvetāmbara lineage of pontiffs, are naked[3],

As to the four vows of Pārśva, it cannot be said that they are referred to by the Buddhists We find the following statement in their "Sāmaññaphala Sutta" *put forth* from the mouth of Lord Mahāvira himself .—

"A Nigantha, O king, is restrained with a fourfold self-restraint. He lives restrained as regards all water; restrained as regards all evil, all evil has he washed away; and he lives suffused with the sense of evil held at bay. Such is the fourfold restraint"

There are not mentioned four vows of Lord Pārva in it, as alleged by the Śvetāmbaras This passage refers to the *saman*-hood (asceticship) as preached by Lord Mahāvira[4] and T. W. Rhys-Davids is justified to remark that four vows of Pārśva are not referred to in it[5].

K. P. Jain.

---

1. *Law.* Historical Gleanings, pp 11—12

2. Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society, January 1855, IV. 401

3. *Smith,* Jaina stupa & other Antiquities of Mathura, p 24 ft.

4. Studi E Materiali Di Storia Delle Religions, III, 7—10.

5. "Prof Jacobi (JS, II, XXIII) Thinks the 'Four Restraints', are intended to represent the four vows kept by the followers of Pārśva But this surely cannot be so, for these vows were quite different."

—T. W. Rhys Davids (Dialogues of Buddha) (S B B Tr.)

The Genealogy of Mandana the Jaina Prime Minister of Hoshang Ghori of Malwa Between A D 1405 and 1432

By

P K Gode M A

Curator

B O R Institute Poona 4

In a paper contributed by me to the "Dr A B Dhruva Commemoration Volume" on "*Mandana the Prime Minister of Malwa and his Works*" I have assigned this Jaina author to the period A. D 1400 to 1432 on the following grounds —

(1) Mss of Maṇḍana's works शृङ्गारमण्डन and काव्यमण्डन are dated *Samvat 1504 = A D 1448* [1]

(2) अलमसाहि or आलमसाहि the patron of Maṇḍana has been identified by me with अल्पखान or Hoshang Ghori who ruled Malwa between A D 1405 and 1432 or so

Since the above paper was sent for publication I have discovered the following chronological evidence in support of my chronology for Maṇḍana and his works —

(1) Prof H D Velankar in his जिनरत्नकोश or *Catalogus Catalogorum of Jaina Mss* that is now being published by the B O R Institute Poona, makes the following entry about an author धनद्राज —

"शतकत्रय (नीति, वैराग्य and शृङ्गार) by धनद्राज संघपति, son of देहड— Chani. 69 PAPR 18 (19) PAZB 1 (28 29—MS dated *Saṁvat 1504*) 23 (8—MS dated *Samvat 1504*)

It is evident from the above entry that MSS of the शतकत्रय of this author धनद्राज were copied in *Saṁvat 1504* (= A D 1448) the very

---

1 Vide मण्डनग्रन्थसंग्रह (काव्य मण्डन शृङ्गारमण्डनौ) ed by Prabhudāsa and Vīra Candra Patan 1919 (हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावली No 17)

year in which the MSS of Mandana's श्रृङ्गारमण्डन and काव्यमण्डन were copied. Let us now see if धनदराज has any connection with मण्डन the Prime Minister of Almsāhi of Malwa

I have already pointed out in my paper on Mandana that his father बाहड was a संघपति connected with the खरतरान्वय and that he himself was a संघपति like his father and a devout follower of Jain religion as he calls himself "श्रीमद्धन्यजिनेन्द्रनिर्भरमनेः · कवे." Maṇḍana further gives us the following information about his family :—

(1) झंझण was his grand-father.

(2) झंझण had six sons :—

(i) चाहड, (ii) बाहड, (iii) देहड, (iv) पद्म, (v) पाहुराज and (vi) कोलाभद्र (?)

(3) बाहड in the above list was Mandana's father. Unfortunately Mandana does not record the names of his cousins, the sons of चाहड, बाहड, देहड etc. This deficiency has, however, been partially made up by the entry regarding the शतकत्रय of धनदराज, son of देहड. I am inclined to identify देहड, the father of संघपति धनदराज with Maṇḍana's uncle देहड The title संघपति appears to have been held by many members of the family as मण्डन calls himself संघपति. He also calls his father संघेश्वर (or संघपति). धनदराज was also a संघपति and MSS of his शतकत्रय were copied at मण्डपदुर्ग in A D. 1448, the very year in which the MSS of Maṇḍana's works were copied.

धनदराज composed his शतकत्रय at Maṇḍapadurga or Maṇḍu fort in *Saṁvat 1490 = A. D. 1434*. This date confirms my chronology for Mandana viz. A. D. 1405 to 1432, a period during which his patron Hoshang Ghori ruled Malwa. Both these cousins मण्डन and धनदराज were men of literary taste and ability and if one of them composed a work in A. D. 1434 the chronology of the other cousin's works may be safely assigned to the period, A D 1405—1432, as determined by me already on the strength of probable evidence which now gets confirmed by the date of धनदराज viz A. D. 1434.

1 Ed. in Kāvyamālā, 13 (N S Press, Bombay). Vide p 318 of *Classical Sans Literature* by Krishnamachariar, 1937—"Dhanadarāja, son of Dehala, wrote three Śatakas like Bhartṛhari in 1434 A. D"

The genealogy of Maṇḍana s family may now be reconstructed as follows —

झम्फण (of श्रीमालवंश)
|
Sons

घाहड	बाहड (मपेश्वर)	देहड	पद्म	पाहुराज (जैनेन्द्रधर्माश्रित)	कोलाभद
	son (संघपति) मण्डन author of काव्यमण्डन, शृङ्गारमण्डन (Mss of A D 1448) and सारस्वतमण्डन (Ms of A. D 1575) and संगीतमण्डन and महाप्रधान of अलमसाहि of Malwa (Hoshang Ghori[1]—A D 1405—1432)	son धनदराज (composed शतकत्रय in *A D 1434*) (संघपति) —Ms of A D 1448			
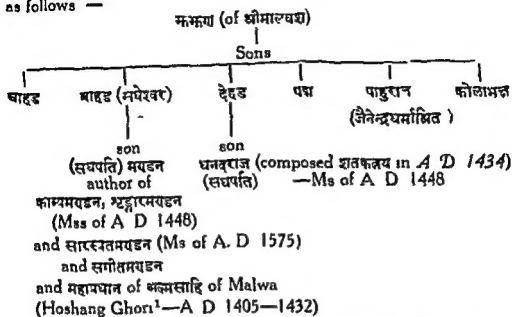
In the following stanzas we find Maṇḍana recording his ministership with अलमसाहि his Jaina faith his श्रीमालवंश, and his father s name —

MSS of सारस्वतमण्डन (B O R Institute Poona) *No 675 of 1891—95* fol 17 a and *No 13 of 1877—78* folio 17—

'सचिवमहाप्राणामुभये स्वपायामिति प्रहत्या सहसाहसानां ।
श्रीमण्डन सुमधिवल्लसाहिमहाप्रधानो भ्यद्धात्सुसधीन ॥
सप सांद्रजिनेंद्रमुद्रपदव श्रमसादोद्भव—
इमूपोमीष्पुमयंसायकजनु श्रीमालमालामपि ।
सोयं सोनगिरान्वय खरतर श्रीबाहडास्यात्मज
श्रीसारस्वतमंडनं रचयति क्ष्मामद्दन मदन ॥"

Udayarāja[2] a court-poet of Mahamūda Begḍā Sultan of Gujarat composed a poem in praise of his patron called the राजविनोद In this

---

1 Cf *Aīn-i-Akbari* (Tr by Jarrett Vol II, 1891)
p 218—"*Alp Khān*, son of Dilāwar Khān was elected to the succession under the tile of *Hashang* - Sultan Muzaffer of Gujarat marched against him"

2 Vide pp 101—115 of *Journal of the Bombay University* Vol IX Part 2 Sept. 1940 (My paper on the *Rājavinoda* of Udayarāja).

PRAŚASTI SAMGRAHA.

The Mss. described in this Vol., are about 54 in all and give a valuable indication of the range of intellectual culture of the Jains. The Mss are valuable from many other points of view, also which a specialist can appreciate.

The study and description uf Mss. form one of the fundamentals of research, which require not only learning but also patience and patient labour. Bhujabali Shastri shows himself in an admirable form in the present work. He has given a brief description of each Ms. in the usual style, giving Subject No., General No, name of the work, author's name, indication of pages, condition of the Mss., date of writing if available, languages, script and remarks if any are required on the special features of the Mss or the work and its authors The editor has considerably enhanced the usefulness of the work by including in it an index comprising subject, author and general.

The Jaina Siddhanta Bhavan and Pt. K. Bhujabali Shastri deserve to be complimented for turning out the above work. The printing and general get up are quite good.

—Journal of Sri Venkatesvara Oriental Institute, Tirupati.

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. IX 1943

Edited by

Prof Hiralal Jain M A, LL.B
Prof A N Upadhye M A, D Litt
Babu Kamata Prasad Jain M R A S
Pt. K Bhujabali Shastri, Vidyabhushana

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
[JAINA SIDDHANTA BHAVANA]
ARRAH BIHAR INDIA

Annual Subscription

Inland Rs 3 Foreign 4s 8d Single Copy Rs 1 8

CONTENTS.